

November 2020

Bulletin of Sri Aurobindo
International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

नवम्बर २०२०



श्रीअरविन्द आश्रम
पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन नवम्बर २०२०

विषय-सूची

'पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति'

दिव्य शरीर	श्रीअरविन्द ३
एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६ से ८
अमरीका के नाम सन्देश	श्रीअरविन्द १४
स्त्री और युद्ध	श्रीमाँ १७
जड़वाद का सिद्धान्त	श्रीअरविन्द २०
अपने विशिष्ट कार्य के प्रति मैं कैसे सचेतन हुई	श्रीमाँ २१
श्रीअरविन्द के उत्तर (७८)	२२

‘पृथ्वी पर अतिमानसिक अभिव्यक्ति’

दिव्य शरीर

फिर भी आरम्भ में पाशविक शरीर की असुविधाएँ, इसकी पशु-प्रकृति और इसके आवेग तथा सर्वथा अनुकूल मानव शरीर की सीमाएँ तो होती ही हैं और जब तक सम्पूर्ण तथा आधारभूत मुक्ति नहीं आ जाती तब तक हमेशा वे बनी रहती हैं। तथा इसके द्वारा अचेतनता अथवा अर्ध-चेतनता तथा जड़-पदार्थ, सब तरह की भौतिकता, अपुनर्जीवित पार्थिव प्रकृति की माँग के साथ आत्मा, मन तथा प्राण का बन्धन वहाँ रहता है और ये सब निरन्तर आत्मा की आवाज़ का विरोध करते तथा उच्चतर चीज़ों की ओर आरोहण में बाधा डालते रहते हैं। भौतिक सत्ता के लिए भौतिक यन्त्रों के साथ, सब प्रकार की भौतिकता तथा भौतिकवाद के प्रति समर्पित मस्तिष्क, हृदय तथा इन्द्रियों के साथ, शारीरिक यान्त्रिकता तथा इसकी ज़रूरतों तथा दायित्वों के साथ, भोजन की अनिवार्य आवश्यकताओं तथा इसे जुटाने तथा भण्डारण के साधनों में व्यस्तता के साथ, क्लान्ति तथा निन्द्रा, शरीर की इच्छाओं की पूर्ति के साथ यह एक बन्धन या गुलामी ले आता है। मनुष्य के अन्दर की प्राणिक शक्ति भी इन्हीं छोटी-छोटी चीज़ों में उलझी रहती है। इसे अपनी बड़ी महत्वाकांक्षाओं तथा कामनाओं, धरती के आकर्षण से परे जाने की अपनी प्रेरणा को सीमित करना है तथा अपने चैत्य भाग के दिव्य सहज बोधों, हृदय के आदर्श तथा आत्मा की लालसाओं का अनुगमन करना है। मन पर शरीर यह विचार आरोपित कर देता है कि भौतिक सत्ता तथा भौतिक जीवन भौतिक वस्तुओं का एकमात्र पूर्ण सत्य है तथा शेष कल्पना की, प्रकाशों और महिमाओं की चमकीली आतिशबाज़ियाँ हैं जो केवल सृष्टि के उच्चतर लोकों में, यहाँ नहीं, अपना पूरा खेल दिखा सकती हैं। यह सन्देह के बोझ से विचार और अभीप्सा को तथा अनिश्चितता से इन्द्रियों तथा अन्तर्भास के प्रमाण को आक्रान्त कर देता है। यह अतिभौतिक चेतना और अनुभूति के बृहत् क्षेत्र पर अवास्तविकता का आरोप लगाता तथा मौलिक सीमित मानवता से अतिमानसिक सत्य तथा दिव्य प्रकृति में आत्मा के विकास को अपने पार्थिव मूलों के शिकंजे में कस देता है। इन बाधाओं पर विजय पायी जा सकती है, शरीर के नकार और विरोध को नियन्त्रित किया जा सकता है, रूपान्तर सम्भव हो सकता है। यहाँ तक कि हमारी निश्चेतना तथा हमारे पाशविक भाग को ज्योतिर्मय किया जा सकता है तथा उन्हें भागवत प्रकृति को अभिव्यक्त करने में सक्षम बनाया जा सकता है। साथ ही हमारी मानसिक मानवता को, अतिमानसिक सत्य-चेतना को तथा हमारे लिए अभी जो अतिचेतन है उसकी दिव्यता को अभिव्यक्त करने में सक्षम बनाया जा सकता है और यहाँ पूर्ण रूपान्तरण को यथार्थ बनाया जा सकता है। किन्तु इसके लिए इसकी पाशविकता की बाध्यताओं तथा अनिवार्यताओं को आवश्यक होने से रोकना होगा तथा इसकी भौतिकता का शुद्धीकरण करना होगा जिससे उसी भौतिकता को दिव्य प्रकृति की अभिव्यक्ति के एक भौतिक

घनत्व में बदला जा सके; क्योंकि पार्थिव परिवर्तन की सम्पूर्णता में किसी भी मूलभूत तत्त्व को छोड़ना नहीं होगा। जड़-पदार्थ को भी आध्यात्मिक सत्य अथवा भगवान् के प्राकट्य का साधन बनाया जा सकता है।

इसमें दोहरी कठिनाई है—मनोवैज्ञानिक तथा सांसारिक। पहली है, अपुनरुज्जीवित पशुता का प्राण पर प्रभाव—विशेषकर शरीर की मूल प्रवृत्ति, आवेग, कामनाएँ। दूसरी है, हमारी सांसारिक संरचना तथा जैव यान्त्रिकता का परिणाम जो उच्चतर दिव्य प्रकृति की गत्यात्मकता पर अपना अवरोध आरोपित करता है। इन दोनों कठिनाइयों में से पहली कठिनाई को नियन्त्रित करना अधिक आसान है क्योंकि यहाँ उच्चतर प्रकृति का संकल्प हस्तक्षेप कर सकता है तथा शरीर पर उच्चतर प्रकृति की शक्ति को आरोपित कर सकता है। शरीर के इन दोनों आवेगों तथा सहज प्रवृत्तियों में से कुछ, आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के द्वारा विशेष रूप से हानिकारक पाये गये हैं तथा शरीर के तापसिक त्याग को बहुत महत्त्व दिया गया है। काम-वासना तथा कामुकता तथा अन्य उन सब पर जो काम-वासना से उत्पन्न होता है और अपनी सत्ता को प्रमाणित करता है—प्रतिबन्ध होना चाहिये, आध्यात्मिक जीवन से उसे हटा दिया जाना चाहिये। और यह, यद्यपि कठिन है, पर असम्भव नहीं है तथा इसे आध्यात्मिक जिज्ञासु के लिए एक मूलभूत शर्त बनाया जा सकता है। यह स्वाभाविक है तथा समस्त तापसिक साधना में अपरिहार्य है। इस शर्त की पूर्ति पहले-पहल आसान नहीं है, फिर भी कुछ समय के बाद यह सम्भव हो जाता है। काम की मूल प्रवृत्ति तथा आवेग पर नियन्त्रण सचमुच उसके लिए बन्धनकारी है जो आत्म-संयम उपलब्ध करना चाहता है तथा आध्यात्मिक जीवन जीना चाहता है। सभी आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के लिए इस पर पूर्ण अधिकार, इसका उन्मूलन अनिवार्य है। इतनी मान्यता इसे अवश्य दी जानी चाहिये तथा इसके अनिवार्य महत्त्व तथा इसके सिद्धान्त को कम नहीं किया जाना चाहिये।

किन्तु वासना के आवेग की स्थूल तृप्ति को छोड़ कर काम-सिद्धान्त की समस्त मान्यता को पृथ्वी पर एक दिव्य जीवन से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। यह प्राण में मौजूद रहता है, एक बड़ी भूमिका अदा करता है तथा इसे सही रास्ते पर लाना होगा, किन्तु इसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता अथवा इसे यों ही दबाया नहीं जा सकता या निम्न स्तर पर नहीं रखा जा सकता या नज़र से दूर नहीं किया जा सकता। प्रथमतः अपने एक पक्ष की दृष्टि से यह एक वैश्व तथा यहाँ तक कि एक दिव्य तत्त्व है। यह ईश्वर और शक्ति का आध्यात्मिक रूप ग्रहण करता है, और सृष्टि के लिए दोनों आवश्यक हैं। इन दोनों का सहयोग तथा आदान-प्रदान इसके मनोवैज्ञानिक कार्य-कलाप के लिए तथा अपनी अभिव्यक्ति में पुरुष और प्रकृति के रूप में भी आवश्यक है जो लीला की समस्त प्रक्रिया का आधार है। दिव्य जीवन में भी अवतार अथवा कम-से-कम किसी रूप में दोनों शक्तियों की अथवा उनके साकार रूप में या प्रतिनिधि के रूप में उनकी उपस्थिति नये सृजन को सम्भव बनाने के लिए अपरिहार्य होगी। अपने मानव क्रिया-कलाप में मानसिक तथा प्राणिक स्तर पर काम-भाव पूर्णतया अदिव्य तत्त्व नहीं है। इसके उत्कृष्टतर पक्ष तथा आदर्श भी हैं तथा यह देखना होगा कि किस प्रकार तथा

किस सीमा तक इन्हें नये तथा विशालतर जीवन में स्वीकार किया जा सकता है। काम-वासना और आवेग की समस्त विरूप पाशविक तृप्ति को बहिष्कृत करना होगा। यह केवल उनमें बना रहेगा जो उच्चतर जीवन या पूर्ण आध्यात्मिक जीवन के लिए तैयार नहीं है। जो इसके लिए अभीप्सा करते हैं किन्तु इसे पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकते, उन्हें काम-भाव को परिष्कृत करना होगा, इसे आध्यात्मिक या चैत्य आवेग को समर्पित करना होगा तथा इसे उच्चतर मन तथा उच्चतर प्राण के द्वारा नियन्त्रित करना होगा। तथा इसके समस्त तुच्छ, मनमौजी, चञ्चल तथा अधम रूपों को त्याग देना होगा और आदर्श की शुद्धता का स्पर्श महसूस करना होगा। प्रेम रहेगा, शुद्ध प्रेम के सभी रूप उच्चतर से उच्चतर सोपानों में तब तक रहेंगे जब तक यह अपनी उच्चतम प्रकृति को सिद्ध न कर ले, विश्व-प्रेम में विस्तारित न हो जाये, भगवान् के प्रेम में विलीन न हो जाये। स्त्री-पुरुष का प्रेम भी उन सबके लिए उत्थापन और पराकाष्ठा तक विकसित हो जायेगा। जो लोग आदर्श तथा आध्यात्मिकता का स्पर्श अनुभव कर सकते हैं उन्हें तब तक आरोहण के पथ का अनुगमन करना होगा जब तक उन्हें भागवत सत्य न मिल जाये। शरीर तथा इसकी गतिविधियों को दिव्य जीवन के अंग के रूप में स्वीकार करना होगा और इस विधान से गुज़रना होगा। परन्तु, अन्य विकासात्मक संक्रान्तियों के समान जो कुछ दिव्य जीवन के विधान को स्वीकार नहीं कर सकता, वह स्वीकृत नहीं हो सकता और उसे आरोहणशील प्रकृति से पीछे हट जाना होगा।

एक दूसरी कठिनाई जिसका सामना शरीर के रूपान्तर को करना है वह है, अपने अस्तित्व के लिए भोजन पर निर्भरता। और यहाँ भी स्थूल भौतिक सहज वृत्ति, आवेग, कामना शामिल हैं जो इस कठिन उपादान से सम्बद्ध हैं, जैसे, स्वाद के लिए लालसा, भोजन के लिए लालच तथा पेट की पशु के समान ढूँस-ढूँस कर खाने की प्रवृत्ति। जब मन इन्द्रियों के पंक में लोटने लगता है तब यह भद्दा बन जाता है, तब यह अपने पाशविक अंश का गुलाम बन जाता है और जड़ता की गुलामी को स्वीकार लेता है। हम लोगों के अन्दर का उच्चतर मनुष्य आत्म-संयम से कार्य करता है अथवा शरीर की माँग के प्रति लापरवाह हो जाता है तथा उच्चतर चीज़ों में लीन रहता है। जैसे जैन तपस्वी दीर्घकालीन और अक्सर उपवास करते हैं जिससे वे कुछ काल के लिए कम-से-कम, शरीर की माँग के चंगुल से ऊपर उठ जाते हैं और इससे आत्मा के विस्तृत कक्षों की शुद्ध रिक्तता अनुभव करने में उन्हें मदद मिलती है। परन्तु यह सब मुक्ति नहीं है और यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि न केवल आरम्भ में बल्कि हमेशा के लिए क्या दिव्य जीवन के लिए भी ऐसा करना आवश्यक है। परन्तु इसे पूर्ण रूप से भोजन से तभी मुक्ति मिल सकती है जब इसे वैश्व ऊर्जा प्राप्त करने का मार्ग मिल जाये जिससे न केवल हमारी भौतिकता का प्राणिक भाग पोषण प्राप्त कर सके बल्कि इसके संघटक पदार्थ को भी पोषण के लिए बाहरी पदार्थ के किसी तत्त्व की ज़रूरत न पड़े। यह वास्तव में सम्भव है कि दीर्घकालीन उपवास की अवधि में भी आत्मा, मन, प्राण, यहाँ तक कि शरीर की भी पूरी शक्ति तथा गतिविधि बनी रहे, सचेतनता के साथ हर समय योग में व्यक्ति एकाग्रचित्त हो

अथवा गहन चिन्तन करे तथा अहर्निश लेखन करे, ये सारी गतिविधियाँ अलग-अलग या एक साथ होती रहें, निद्रा से मुक्ति मिल जाये, प्रतिदिन आठ घण्टे टहल सके तथा किसी प्रकार की थकावट, विफलता तथा हास महसूस न करे। उपवास के अन्त में व्यक्ति तुरन्त सामान्य, यहाँ तक कि सामान्य से भी अधिक पोषण, बिना किसी अन्तर्वर्ती सावधानी के, ले सकता है, जैसा कि चिकित्सा-विज्ञान परामर्श देता है, मानों पूर्ण उपवास तथा भोजन स्वाभाविक स्थितियाँ हों और जब चाहें तब एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाया जा सके। लेकिन यह ऐसे शरीर के लिए सम्भव हो सकता है जिसे योग की शक्तियों तथा गतिविधियों का यन्त्र बनने के लिए एक प्रकार के प्रारम्भिक रूपान्तर द्वारा पहले से प्रशिक्षित किया गया हो। किन्तु एक चीज़ से व्यक्ति नहीं बच सकता और वह है, शरीर के द्रव्यात्मक ऊतकों (टिशूज़), मांस तथा तत्त्व की क्षति। कल्पनीय रूप से, यदि एक व्यावहारिक तरीका तथा साधन मिल जाये तब इस अन्तिम अपराजेय बाधा पर भी विजय पायी जा सकती है और शरीर को भौतिक प्रकृति की शक्तियों के साथ इसकी शक्तियों के आदान-प्रदान द्वारा बनाये रखा जा सकता है और व्यक्ति की ओर से उसे उसकी ज़रूरत की चीज़ें देकर तथा उससे सीधे वैश्व सत्ता की पोषक शक्तियों को लिया जा सकता है। कल्पनीय रूप से, व्यक्ति जीवन के क्रमिक विकास के शिखर पर पहुँचने पर उसी निष्कर्ष पर पुनः पहुँच सकता है जो इसके मूल में देखता है और वह यह कि व्यक्ति अपने चतुर्दिक पर्यावरण से सम्पोषण तथा आत्म नवीनीकरण की शक्ति ग्रहण कर सकता है। अथवा अधिक विकसित व्यक्ति और अधिक महत्तर शक्ति अपने पर्यावरण या इसके नीचे से सम्पोषण लेने की अपेक्षा ऊपर से सम्पोषण प्राप्त करेंगे। परन्तु जब तक इस तरह की चीज़ उपलब्ध न कर ली जाये अथवा सम्भव न बना ली जाये, हमें भोजन की ओर तथा प्रकृति द्वारा स्थापित भौतिक साधनों की ओर लौटना होगा।

वास्तव में हम लोग, चाहे निश्चेतन रूप से ही सही, अपने भौतिक अस्तित्व की आपूर्ति तथा शरीर में मानसिक, प्राणिक तथा अन्य क्षमताओं की क्षतिपूर्ति के लिए निरन्तर वैश्व ऊर्जा, जड़-द्रव्य में निहित शक्ति ग्रहण करते रहते हैं। हम इसे प्रकृति द्वारा व्यवस्थित एक विशिष्ट साधन के माध्यम से अदृश्य प्रक्रियाओं के द्वारा सीधे ग्रहण करते हैं। श्वास की प्रक्रिया इनमें से एक है, नींद और विश्राम भी। परन्तु प्रकृति ने स्थूल भौतिक शरीर के भरण-पोषण तथा इसकी कार्य-प्रणाली और आन्तरिक क्षमताओं के नवीनीकरण के लिए भोजन के रूप में बाह्य पदार्थ को अन्दर ग्रहण किये जाने के लिए चुना है। इसके साथ ही जुड़ा हुआ है पाचन, जो आत्मसात् हो सकता हो उसको आत्मसात् करना और जो आत्मसात् नहीं हो सकता हो उसका निराकरण। यह अपने-आपमें केवल भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है। परन्तु शरीर में स्वास्थ्य और शक्ति की सुनिश्चितता के लिए इसने शारीरिक व्यायाम तथा अनेक प्रकार के खेल-कूद के आवेग, ऊर्जा के व्यय तथा नवीनीकरण के लिए अनेक विधियों, अनेक प्रकार की गतिविधियों तथा परिश्रम करने की छूट अथवा ज़रूरत दे दी है। नवीन जीवन में, कम-से-कम आरम्भ में, भोजन की ज़रूरत से पूर्ण इनकार या स्थापित स्वाभाविक प्रणाली से इनकार करना अपूर्ण

रूप से रूपान्तरित शरीर के लिए आवश्यक नहीं होगा और न यह परामर्शनीय ही होगा। और जब भी इन चीजों की आवश्यकता नहीं रह जायेगी तब यह आत्मा के सचेतन संकल्प के परिणाम-स्वरूप स्वतः आ जायेगा, जो स्वयं जड़-द्रव्य का भी अव्यक्त संकल्प होगा, क्योंकि यह एक अत्यावश्यक क्रमविकासात्मक आवेग है, एक काल की सृजनात्मक रूपान्तरकारी क्रिया है अथवा परात्पर से एक अवतरण है। तब तक सत्ता की उच्चतर शक्तियों की सचेतन क्रिया के द्वारा चतुर्दिक पर्यावरण से या ऊपर से, परात्पर चेतना के आह्वान के द्वारा अथवा परात्पर के स्वयं अवतरण द्वारा यह यदा-कदा हो सकता है, या प्रायः यह एक निरन्तर गतिविधि हो सकती है तथा अन्न की भूमिका को कम किया जा सकता है और इसकी ज़रूरत इतनी कम की जा सकती है कि अन्न का प्रयोग कम-से-कम करना पड़े या आवश्यक ही न रह जाये।

तब तक भोजन तथा प्रकृति की सामान्य प्रक्रिया को स्वीकार किया जा सकता है, यद्यपि इसके उपयोग को आसक्ति, कामना, अन्धाधुन्ध पशुवत् भकोसने तथा स्वाद के लिए खाते रहने की आदत से मुक्त किया जाना चाहिये जो अज्ञान के कारण होता है। भौतिक प्रक्रियाओं को सूक्ष्म बनाने तथा स्थूलतम से मुक्ति पाने का प्रयास किया जाना चाहिये और नवीन प्रक्रियाओं और साधनों की खोज की जानी चाहिये। जब इसे स्वीकार कर लिया जाये तब इसमें एक परिष्कृत सुख, यहाँ तक कि शारीरिक स्वाद के स्थान पर एक निष्काम स्वाद के आनन्द का अनुभव किया जाना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि धरती पर दिव्य जीवन के लिए धरती तथा जड़-द्रव्य को न तो अस्वीकार करना चाहिये और न इन्हें अस्वीकार किया ही जा सकता है, बल्कि केवल परिष्कृत किया जाना चाहिये जो उनके अपने अन्दर आत्मा की सम्भावनाओं को उद्घाटित करने के लिए, आत्मा की उच्चतम उपयोगिता से लाभ उठाने के लिए तथा एक उच्चतर जीवन में रूपान्तर के लिए वाञ्छनीय है।

दिव्य जीवन को हमेशा पूर्णता की ओर आगे बढ़ाने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिये। जीवन के आनन्द की पूर्णता इसका एक अंग है और एक अनिवार्य अंग है। वस्तुओं में शरीर का आनन्द तथा जीवन का शारीरिक आनन्द इससे बाहर नहीं है। इन्हें भी पूर्ण बनाना होगा। एक बृहत् सम्पूर्णता इस नवीन तथा वर्धनशील जीवन-शैली की प्रकृति ही है। मन की सम्भावनाओं की ऐसी सम्पूर्णता जो ज्योतिर्मय वस्तु में बदल जाये, प्राण की ऐसी पूर्णता जो आध्यात्मिक शक्ति और आनन्द में रूपान्तरित हो जाये, शरीर की ऐसी पूर्णता जो दिव्य कर्म, दिव्य ज्ञान, दिव्य आनन्द के यन्त्र में परिवर्तित हो जाये—इस जीवन का यही धर्म है। उन सबको जिनमें स्वयं को रूपान्तरित करने की क्षमता है, जो आत्माभिव्यक्त करते हुए आत्मन् की इस पूर्णता को कार्यान्वित करने में यन्त्र, पात्र तथा एक अवसर बन सकते हैं—उन सबको इसके दायरे में लिया जा सकता है।

—श्रीअरविन्द

एक विद्यार्थिनी के नाम पत्र

हम पृथ्वी के इतिहास के एक संक्रमणकालीन क्षण में हैं। यह शाश्वत काल में केवल एक क्षण है, लेकिन मानव जीवन की तुलना में यह मुहूर्त लम्बा है। जड़-भौतिक अपने-आपको नयी अभिव्यक्ति के लिए तैयार करने के लिए बदल रहा है, परन्तु मानव शरीर काफ़ी नमनशील नहीं है और प्रतिरोध करता है; इसी कारण अबोधगम्य अव्यवस्थाओं और रोगों की संख्या बढ़ती जा रही है और चिकित्साशास्त्र के लिए एक समस्या बन गयी है।

इसका उपाय है कार्यरत दिव्य शक्तियों के साथ ऐक्य और विश्वासी तथा शान्तिभरी ग्रहणशीलता जो कार्य को ज़्यादा सरल बना देती है।

१८ नवम्बर १९७१

जो आजकल प्रगति करना चाहते हैं उनके लिए बहुत विशेष अवसर है क्योंकि रूपान्तर शुरू होता है नयी शक्तियों की क्रिया की ओर चेतना के खुलने से। इस तरह व्यक्तियों को भागवत प्रभाव के प्रति अपने-आपको खोलने का अनोखा और अद्भुत अवसर प्राप्त है।

२० नवम्बर १९७१

व्यक्तिगत जीवन का प्रयोजन है, भगवान् को खोजने और उनके साथ एक होने का आनन्द। जब तुम यह बात समझ लो तब तुम सभी कठिनाइयों को पार करने की शक्ति पाने के लिए तैयार होते हो।

२२ नवम्बर १९७१

निम्न प्रकृति पर विजय किसी भी बाह्य सफलता की अपेक्षा अधिक गहरा और स्थायी आनन्द देती है।

२४ नवम्बर १९७१

श्रीअरविन्द ने हमें कुछ अद्भुत चीज़ें बतलायी हैं जिन्हें भविष्य धरती पर लायेगा और हमें प्रोत्साहन दिया है कि हम अपने-आपको उसके लिए तैयार करें।

२७ नवम्बर १९७१

हर एक के अन्दर अपना अहंकार होता है और सभी अहंकार एक-दूसरे से टकराते रहते हैं। आदमी स्वतन्त्र सत्ता तभी बन सकता है जब वह अहंकार से पीछा छुड़ा ले।

स्वतन्त्र होने के लिए तुम्हें पूरी तरह केवल भगवान् का ही होना चाहिये।

३ दिसम्बर १९७१

जीवन की कठिन घड़ियों में हर एक का अत्यावश्यक कर्तव्य है, भगवान् के प्रति समग्र, अप्रतिबन्ध आत्म-निवेदन में अपने अहंकार पर विजय पाना। तब भगवान् तुमसे वही करवायेंगे जो तुम्हें करना चाहिये।

४ दिसम्बर १९७१

परम प्रभो, अनन्त प्रज्ञा,

इस संकटमयी घड़ी में जब अहंकार टकरा रहे हैं और अपने अधिकारों पर डटे हैं, केवल 'तेरी' शरण में ही सुरक्षा है!

वर दे कि हमारे अन्दर कोई भी चीज़ 'तेरी इच्छा' की परिपूर्ति में बाधक न हो।

वर दे कि हम 'तेरी इच्छा' की परिपूर्ति में सचेतन और प्रभावकारी सहयोगी बनें।

५ दिसम्बर १९७१

धरती पर कठिन घड़ियाँ मनुष्यों को अपने तुच्छ निजी अहंकार को जीतने और सहायता तथा प्रकाश के लिए केवल भगवान् की ओर मुड़ने को बाधित करने के लिए आती हैं। मनुष्यों की बुद्धिमत्ता अज्ञानमय है। केवल भगवान् जानते हैं।

७ दिसम्बर १९७१

हमारी मानव चेतना में ऐसी खिड़कियाँ हैं जो शाश्वत में खुलती हैं। लेकिन मनुष्य साधारणतः इन खिड़कियों को सावधानी से बन्द रखते हैं। हमें उन्हें पूरी तरह खोल देना और शाश्वत को बेरोक-टोक अपने अन्दर आने देना चाहिये ताकि वह हमें रूपान्तरित कर सके।

खिड़कियाँ खोलने के लिए दो शर्तें ज़रूरी हैं :

१. तीव्र अभीप्सा।

२. अहंकार का उत्तरोत्तर विलय।

जो सच्चाई के साथ काम में लगते हैं उनके लिए भागवत सहायता निश्चित है।

८ दिसम्बर १९७१

व्यष्टिगत सत्ता को बनाने के लिए अहंकार ज़रूरी था, अतः उसका नाश कठिन है। इसका एक बहुत अच्छा यद्यपि ज़्यादा कठिन समाधान है : उसे रूपान्तरित करके भगवान् का यन्त्र बनाना।

जो अहंकार परिवर्तित और पूरी तरह भगवान् को निवेदित हो जाते हैं वे विशेष रूप से शक्तिशाली और प्रभावी यन्त्र बन सकते हैं।

प्रयास कठिन है और एक सम्पूर्ण और दृढ़ सच्चाई की माँग करता है, लेकिन जिनमें प्रबल इच्छाशक्ति, तीव्र अभीप्सा और निष्कम्प सच्चाई हो उनके लिए यह काम हाथ में लेने-योग्य है।

जैसे-जैसे काम आगे बढ़ता है, हर व्यक्ति के लिए विधि भी क्रियान्वित होती जाती है क्योंकि

हर अहंकार का अपना स्वभाव होता है और हर एक को विशेष तरीके की ज़रूरत होती है।

सबके लिए जो गुण अनिवार्य हैं वे हैं, सम्पूर्ण अध्यवसाय और सच्चाई। अपने-आपको धोखा देने की ज़रा-सी वृत्ति भी सफलता को असम्भव बना देती है।

९ दिसम्बर १९७१

तुम्हारे लिए शुरू करने का सबसे अच्छा तरीका है, अपनी चैत्य सत्ता को खोजो और उसे अपनी सभी आन्तरिक गतिविधियों का साक्षी बना कर उस पर एकाग्र होओ, तुम्हें जो कुछ करना और जो नहीं करना चाहिये उसे उसका निर्णायक बनाओ और अपनी बाह्य प्रकृति को उसके निर्णय के आधीन बनाने की कोशिश करो।

११ दिसम्बर १९७१

चैत्य सत्ता दिव्य उपस्थिति का व्यक्तिगत कोष है।

वह सभी विचारों के परे हमारे अन्दर की गहराई में पायी जाती है।

११ दिसम्बर १९७१

चैत्य के सन्देश मानसिक रूप में नहीं आते। वे विचार या तर्क-वितर्क नहीं होते। उनका अपना स्वभाव होता है, मन से एकदम अलग, एक ऐसी भावना की तरह जो अपने-आपको समझती और क्रिया करती है।

स्वभावतया ही चैत्य निश्चल, स्थिर, प्रकाशमय, समझदार, उदार, विस्तृत और प्रगतिशील होता है। वह सदा समझने और प्रगति करने का प्रयास करता है।

मन वर्णन करता और व्याख्या करता है।

चैत्य देखता और समझता है।

१३ दिसम्बर १९७१

चैत्य धरती पर अपने उत्तरोत्तर जीवनो में प्रगतिशील रूप के बारे में सचेतन होता है इसलिए उसे अपने पिछले जीवनो की महत्त्वपूर्ण घटनाओं की याद होती है।

चैत्य ने पृथ्वी पर अपने इन भौतिक जीवनो में जितना अधिक भाग लिया होगा उसकी स्मृतियाँ उतनी ही अधिक और यथार्थ होंगी।

१४ दिसम्बर १९७१

मनुष्यों के बीच में अकेलेपन का अनुभव करना इस बात का चिह्न है कि तुम अपनी सत्ता के अन्दर भगवान् की उपस्थिति के साथ सम्पर्क पाने की आवश्यकता अनुभव कर रही हो।

अतः तुम्हें नीरवता में एकाग्र होना चाहिये और सभी मानसिक क्रियाओं के परे अन्दर की गहराइयों में प्रवेश करके अपनी चेतना की गहराइयों में भागवत उपस्थिति को खोज निकालना चाहिये।

१६ दिसम्बर १९७१

एक ऐसा क्षण आता है जब भागवत उपस्थिति के बिना जीवन असह्य हो उठता है। अतः, अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को सौंप दो तो तुम 'प्रकाश' में उठ आओगी।

१७ दिसम्बर १९७१

भगवान् के साथ सचेतन सायुज्य का एक क्षण सारे प्रतिरोध को छिन्न-भिन्न कर सकता है चाहे वह कितना ही प्रबल क्यों न हो।

१८ दिसम्बर १९७१

नीरवता में अधिकतम ग्रहणशीलता रहती है और निश्चल-नीरवता में बड़े-से-बड़ा कार्य किया जाता है।

आओ, हम नीरव होना सीखें ताकि प्रभु हमारा उपयोग कर सकें।

१९ दिसम्बर १९७१

जब हम अपनी चेतना से समस्त पराजयवाद को निकाल फेंकेंगे तब हम सिद्धि की दिशा में एक बहुत बड़ी छलाँग लगायेंगे।

'भागवत कृपा' में अपनी श्रद्धा को पूर्ण करके हम अवचेतना के पराजयवाद पर विजय पा सकेंगे।

२० दिसम्बर १९७१

भौतिक जगत् के दुःख-दैन्य को समाप्त करने के लिए, जो अवचेतन निराशावाद का कारण हैं, भगवान् के साथ पूर्ण ऐक्य और सम्पूर्ण अभिव्यक्ति ही अनन्य उपाय हैं। केवल भगवान् के साथ पूर्ण ऐक्य में ही चेतना का शाश्वत आनन्द में आविर्भाव हो सकता है। और यह सचेतन ऐक्य ही पार्थिव जीवन का सच्चा लक्ष्य है।

२१ दिसम्बर १९७१

यह जानना कि हम क्यों जीते हैं : भगवान् की खोज और उनके साथ सचेतन सायुज्य। एकमात्र इसी उपलब्धि पर एकाग्र होने की अभीप्सा करना।

सभी परिस्थितियों को इस लक्ष्य तक पहुँचने के साधन में रूपान्तरित करना जानना।

२२ दिसम्बर १९७१

प्रार्थना

प्रभो, मेरे अन्दर तुम्हें जानने की तीव्र इच्छा जागे।

मैं अपना जीवन तुम्हारी सेवा के लिए अर्पित करने की अभीप्सा करती हूँ

२४ दिसम्बर १९७१

अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए जो अच्छी-से-अच्छी चीज़ हम कर सकते हैं वह है, अपने अन्दर के समस्त अहंकार पर विजय पाना और इस रूपान्तर के लिए सतत प्रयास करना। मानव अहं इस कारण अपदस्थ होने से इन्कार करता है कि और लोग रूपान्तरित नहीं हुए हैं। लेकिन वही दुर्भावना का गढ़ है, क्योंकि हर एक का कर्तव्य है कि और लोग क्या करते हैं उसकी परवाह किये बिना अपने-आपको रूपान्तरित करना।

अगर लोग जानें कि यह रूपान्तर, अहंकार का लोप ही सतत शान्ति और आनन्द का एकमात्र मार्ग है तो वे आवश्यक प्रयास करने के लिए तैयार हो जायेंगे। अतः, उनके अन्दर यह विश्वास जगाना चाहिये।

हर एक से बार-बार कहना चाहिये: अपने अहंकार को लुप्त कर दो तो तुम्हारे अन्दर शान्ति का राज्य होगा।

भगवान् की सहायता हमेशा सच्ची अभीप्सा को उत्तर देती है।

२५ दिसम्बर १९७१

मनुष्य अपने जीवन में जैसा मनोभाव अपनाते हैं उसके अनुसार उन्हें चार वर्गों में बाँटा जा सकता है :

१. वे जो स्वयं अपने लिए जीते हैं। वे हर चीज़ के बारे में अपने सम्बन्ध में ही सोचते हैं और उसी के अनुसार कार्य करते हैं। मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या इसी तरह की है।

२. ऐसे लोग जो अपना प्रेम किसी और मनुष्य को देते और उसी के लिए जीते हैं। परिणाम-स्वरूप हर चीज़ स्वभावतः उस व्यक्ति पर निर्भर होती है जिसे प्रेम के लिए चुना जाता है।

३. ऐसे लोग जो अपना जीवन मानवजाति की सेवा के लिए अर्पित करते हैं—मानवजाति की किसी ऐसी सेवा द्वारा जो निजी सन्तोष के लिए न होकर, बिना हिसाब-किताब के और कार्य से किसी निजी लाभ की आशा किये बिना, सचमुच दूसरों के लिए उपयोगी हो।

४. ऐसे लोग जो अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को दे देते हैं और केवल उन्हीं के लिए और उन्हीं के द्वारा जीते हैं। इसका मतलब होता है, भगवान् को पाने के लिए आवश्यक प्रयास करना, उनकी इच्छा के बारे में सचेतन होना और ऐकान्तिक रूप से उनकी सेवा के लिए कार्य करना।

पहली तीन श्रेणियों में व्यक्ति स्वभावतः दुःख-दैन्य और निराशा के सामान्य नियम के आधीन होता है।

केवल अन्तिम वर्ग में—अगर व्यक्ति उसे पूरी सच्चाई के साथ चुने और अखूट धीरज के साथ उसके पीछे लगा रहे—तो वह पूर्ण परिपूर्ति और सतत प्रकाशमान शान्ति की निश्चित पाता है।

२६ दिसम्बर १९७१

सुखी होने के लिए मत जियो, भगवान् की सेवा करने के लिए जियो। तब तुम जो सुख भोगोगे वह सभी आशाओं से बढ़ कर होगा।

२८ दिसम्बर १९७१

हम पृथ्वी के इतिहास के एक निर्णायक मुहूर्त में हैं। वह अतिमानव के आने की तैयारी कर रहा है और इस कारण जीवन की प्राचीन पद्धति अपना मूल्य खोती जा रही है। हमें इसकी नयी माँगों के बावजूद साहस के साथ भविष्य के मार्ग पर आगे बढ़ते चलना है। जो तुच्छताएँ एक समय सही जा सकती थीं वे अब नहीं सही जा सकतीं। जो आने वाला है उसे ग्रहण करने के लिए हमें अपने-आपको विस्तृत करना चाहिये।

२९ दिसम्बर १९७१

सृष्टि का परिणाम है, चेतना का ब्योरेवार गुणन।

जब समग्र की दृष्टि और सभी ब्योरों की दृष्टि एक सक्रिय चेतना में मिल कर एक हो जायेंगी तो सृष्टि अपनी प्रगतिशील पूर्णता प्राप्त कर लेगी।

८ जनवरी १९७२

देश और काल में किन्हीं दो मनुष्यों की चेतना एक-सी नहीं होती और इन सभी चेतनाओं का योगफल भागवत चेतना की एक आंशिक और अल्प अभिव्यक्ति-मात्र होता है।

इसीलिए मैंने “प्रगतिशील पूर्णता” कहा, क्योंकि ब्योरे की चेतना की अभिव्यक्ति अनन्त और अविरत होती है।

९ जनवरी १९७२

पहली शर्त है कि अपने निजी हितों को लक्ष्य न बनाओ।

पहले गुण जिनकी ज़रूरत है वे हैं : बहादुरी, साहस और अध्यवसाय।

और फिर इस बारे में सचेतन होना कि व्यक्ति को जो जानना चाहिये उसकी तुलना में वह कुछ भी नहीं जानता, उसे जो करना चाहिये उसकी तुलना में वह कुछ भी नहीं कर सकता, उसे जो होना चाहिये उसकी तुलना में वह कुछ भी नहीं है।

उसकी प्रकृति में जिस चीज़ की कमी है उसे प्राप्त करने के लिए, जो अभी तक वह नहीं जानता उसे जानने के लिए, जो अभी तक वह नहीं कर सकता उसे करने के लिए एक अपरिवर्तनशील संकल्प होना चाहिये।

निजी कामनाओं के अभाव से आने वाली ज्योति और शान्ति में व्यक्ति को सदा प्रगति करते रहना चाहिये।

व्यक्ति अपना कार्यक्रम बना सकता है :

“हमेशा अधिक अच्छा और आगे!”

और केवल एक ही लक्ष्य हो : भगवान् को जानना, ताकि उन्हें अभिव्यक्त कर सको।

दृढ़ बनी रहो और तुम आज जो नहीं कर सकतीं उसे कल कर पाओगी।

११ जनवरी १९७२

—‘श्रीमातृवाणी’, खण्ड १६, पृ. ४७३-४८२

अमरीका के नाम सन्देश^१

मुझसे कहा गया है कि मैं १५ अगस्त के अवसर पर ‘पश्चिम’ के लिए एक सन्देश भेजूँ, किन्तु जो कुछ मैं कहूँगा वह ‘पूर्व’ के लिए भी उपयुक्त हो सकता है। मानव-कुटुम्ब के इन दो भागों में विभाजन और विभेद करना, बल्कि इनमें परस्पर विरोध उत्पन्न करना एक आम बात हो गयी है; किन्तु मेरी प्रवृत्ति समानता और एकता पर बल देने की है, विभाजन और विभेद पर नहीं। पूर्व हो या पश्चिम, दोनों की मानवी प्रकृति एक ही है, एक ही भवितव्यता है तथा एक महत्तर पूर्णता के लिए दोनों की अभीप्सा भी समान है, दोनों अपने से किसी उच्चतर वस्तु की खोज कर रहे हैं, एक ऐसी वस्तु की जिसकी ओर हम आन्तरिक रूप में, बल्कि बाह्य रूप में भी बढ़ रहे हैं। कुछ लोग अवश्य ही पूर्व की आध्यात्मिकता अथवा गुह्य विद्या पर और पश्चिम की भौतिकवादी प्रवृत्ति पर बल देते हैं; किन्तु पश्चिम की आध्यात्मिक जिज्ञासा पूर्व की जिज्ञासा से कम नहीं रही है। पश्चिम में भी सन्त, ज्ञानी और गुह्य विद्या के ज्ञाता हुए हैं, चाहे उतने नहीं। उधर पूर्व में भी जड़वादी प्रवृत्तियाँ, भौतिक शान-बान रही है; उसका भी जीवन और स्थूल सत्ता तथा इस जगत् के साथ वही व्यवहार रहा है। पूर्व और पश्चिम सदा ही मिलते रहे हैं और दोनों का निकट रूप से आदान-प्रदान भी चलता रहा है, दोनों ने एक-दूसरे को प्रभावित भी खूब किया है और वर्तमान समय में तो प्रकृति और नियति की ओर से ही ऐसा करने के लिए उन पर अधिकाधिक दबाव डाला जा रहा है।

दोनों की आशा और नियति, अब चाहे वह आध्यात्मिक हो चाहे जड़वादी, एक ही हैं, और इसके लिए दोनों के सहयोग की आवश्यकता है। अब हमें अपने मन को विभाजन और विभेद पर नहीं, एकता और एकीकरण पर एकाग्र करना है, जो समान आदर्श, भावी लक्ष्य की खोज और प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं; हमें वस्तुतः उस उपलब्धि के लिए प्रयत्न करना है जिसके लिए प्रकृति ने शुरू में तो अनजाने रूप में कार्य किया था पर अब उसे उस अज्ञान के स्थान पर ज्ञान के अधिकाधिक बढ़ते हुए प्रकाश में सतत रूप में कार्य करना होगा।

^१ यह सन्देश श्रीअरविन्द की ७७ वीं वर्षगाँठ पर उनके कुछ अमरीकी शिष्यों की प्रार्थना के प्रत्युत्तर में भेजा गया था, जब कि वे न्यूयॉर्क में उनकी वर्षगाँठ मना रहे थे। यह ११ अगस्त १९४९ को लिखा गया था।

किन्तु वह आदर्श और लक्ष्य है क्या? यह जीवन के सत्यों तथा सर्वोच्च सत्य-सम्बन्धी हमारी धारणा पर निर्भर करता है।

यहाँ हमें यह ज़रूर देखना है कि 'पूर्व' और 'पश्चिम' की प्रवृत्तियों में वस्तुतः पूर्ण विभेद कभी भी नहीं रहा है, बल्कि वे अलग-अलग दिशा में अधिकाधिक भटकती रही हैं। सबसे बड़ा सत्य 'आत्मा' का सत्य है, उस सर्वोच्च आत्मा का जो जगत् से ऊपर है पर फिर भी जगत् में तथा उस सबमें जिसका यहाँ अस्तित्व है, व्याप रही है, जो सबका पोषण करती है तथा उन्हें उस एक उद्देश्य और लक्ष्य की ओर ले जा रही है, चाहे जो भी वह हो। प्रकृति की जिस उपलब्धि की ओर वह अपने अज्ञानपूर्ण और अचेतन आरम्भों से चेतना के विकास द्वारा बढ़ रही है, वह अस्तित्व का वह पक्ष है जो हमारी सत्ता के रहस्य को उद्घाटित करता है तथा इस जगत् को एक अर्थ प्रदान करता है। 'पूर्व' ने सदा ही आत्मा के उच्चतम सत्य पर अधिक-से-अधिक बल दिया है; बल्कि, इसके चरम दार्शनिक विचारों के अनुसार तो इसने जगत् को भ्रान्ति मान कर तथा उसकी अवज्ञा करके आत्मा को ही एकमात्र सत्ता स्वीकार किया है। उधर पश्चिम ने संसार पर, हमारी भौतिक सत्ता के साथ मन और जीवन के सम्बन्धों पर, उस पर स्वामित्व प्राप्त करने तथा मन और जीवन को पूर्ण बनाने पर, साथ ही इस पृथ्वी पर मानवी सत्ता की किसी उपलब्धि पर अपने को अधिकाधिक केन्द्रीभूत किया है : बाद में तो बात यहाँ तक बढ़ गयी कि उसने आत्मा को ही नहीं नकार दिया, बल्कि जड़-पदार्थ को ही एकमात्र सत्य मान लिया। एक ओर आध्यात्मिक पूर्णता ही एकमात्र आदर्श है और दूसरी ओर मनुष्यजाति की पूर्णता प्राप्त करने की शक्यता, एक पूर्ण समाज, मानव मन, मानव जीवन और मनुष्य के भौतिक अस्तित्व का पूर्ण विकास भविष्य के बहुत बड़े स्वप्न बन गये हैं। तथापि हैं ये दोनों सत्य, इन्हें जगत् की प्रकृति में व्याप्त 'आत्मा' के अभिप्राय का एक अंग माना जा सकता है; इनमें परस्पर विरोध तो नहीं है, पर इन्हें अलग-अलग दिशाओं में जाने से रोकना होगा। भविष्यसम्बन्धी हमारे दृष्टिकोण में इन दोनों का शामिल होना तो ज़रूरी है ही, इनमें परस्पर सहयोग की भी आवश्यकता है।

'पश्चिम' के विज्ञान ने यह खोज की है कि इस भौतिक जगत् में विकास ही जीवन और उसकी प्रक्रियाओं का रहस्य है; किन्तु उसने जितना बल बाह्य रूप और जाति के विकास पर दिया है उतना चेतना के विकास पर नहीं : बल्कि चेतना को विकासक्रम में एक घटना माना है, विकास के अर्थ का सम्पूर्ण रहस्य नहीं। 'पूर्व' में कुछ विद्वानों, दार्शनिकों और धर्मशास्त्रों ने विकास की प्रक्रिया को स्वीकार किया है, पर यहाँ उनका अभिप्राय आत्मा का विकास रहा है, अर्थात्, व्यक्ति कई रूपों और कई जन्मों में विकास करके अपने उच्चतम सत्य पर पहुँचता है। कारण, यदि बाह्य रूप में एक चेतन सत्ता है, तो वह सत्ता चेतना में एक क्षणिक तथ्य नहीं हो सकती। उसे एक ऐसी आत्मा होना चाहिये जो अपने-आपको चरितार्थ करे और यह चरितार्थता तभी साधित हो सकती है यदि आत्मा पृथ्वी पर कई जन्म ले और कई शरीर धारण करे।

विकास की प्रक्रिया का क्रम यह रहा है : अचेतन जड़-पदार्थ से और उसके अन्दर अवचेतन

का विकास और फिर चेतन जीवन; पहले चेतन मन पशु के जीवन में प्रकट हुआ और बाद में पूर्ण रूप से एक चेतन और विचारक मनुष्य में, यही विकासात्मक प्रकृति की वर्तमान उच्चतम उपलब्धि है। मन की यह उपलब्धि इस समय उसकी उच्चतम उपलब्धि है और यह अन्तिम भी मानी जाने लगी है; किन्तु विकास के अगले चरण के विषय में भी सोचा जा सकता है : प्रकृति के सामने मनुष्य के अपूर्ण मन के आगे एक ऐसी चेतना भी हो सकती है जो मन के अज्ञान से निकल कर सत्य को अधिकृत कर सकती है जो उसका जन्मजात अधिकार है, उसका स्वभाव है। वेदों में सत्य-चेतना का जिक्र आता है, जिसे मैंने 'अतिमानस' नाम दिया है। इसमें ज्ञान पहले से मौजूद है, उसे ज्ञान की खोज नहीं करनी है, अतएव, उसके लिए बार-बार असफलता प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक उपनिषद् में मन से अगली वस्तु ज्ञानपूर्ण सत्ता कही गयी है; इसी में आत्मा को विकसित होना है और इसी के द्वारा उसे आध्यात्मिक अस्तित्व के पूर्ण आनन्द को प्राप्त करना है। यदि प्रकृति के अगले विकासात्मक चरण के रूप में यह यहाँ प्राप्त हो सके तो उसकी उपलब्धि पूर्ण हो जायेगी और तब यहाँ भी जीवन की पूर्णता सम्भव हो जायेगी, इस शरीर में अथवा एक पूर्णता-प्राप्त शरीर में एक पूर्ण आध्यात्मिक जीवन सम्भव हो जायेगा। बल्कि हम इस पृथ्वी पर ही एक दिव्य जीवन की कल्पना कर सकेंगे। तब हमारा यह मानवी स्वप्न कि पूर्णता प्राप्त की जा सकती है पूरा हो जायेगा, साथ ही पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना की अभीप्सा भी, जिसकी बहुत से धर्म तथा अध्यात्म के ज्ञाता सन्त और विचारक चर्चा करते हैं।

सर्वोच्च 'आत्मा' की ओर मानव आत्मा का आरोहण उसका उच्चतम लक्ष्य एवं आवश्यकता है, क्योंकि वही सर्वोच्च सत्य है। किन्तु 'आत्मा' और उसकी शक्तियाँ संसार में अवतरित भी हो सकती हैं और यह बात इस स्थूल भौतिक जगत् के अस्तित्व को औचित्य और अर्थ प्रदान करती है, साथ ही यह भी प्रमाणित करती है कि इस सृष्टि का एक दिव्य हेतु है, इसकी पहेली को सुलझाने का कार्य भी यही करती है। इस अत्यधिक महान् और व्यापक आदर्श की पूर्ति के लिए 'पूर्व' और 'पश्चिम' दोनों मिल कर कार्य कर सकते हैं, 'आत्मा' जड़-पदार्थ का आलिंगन करे और 'जड़-पदार्थ' आत्मा में अपनी सच्ची वास्तविकता को तथा सभी वस्तुओं में निहित 'सत्य' को खोजे।

११ अगस्त १९४९

—श्रीअरविन्द

यह सोचना बन्द कर दो कि तुम 'पश्चिम' के हो और दूसरे 'पूर्व' के हैं। सभी मनुष्यों का दिव्य स्रोत एक ही है और सभी का लक्ष्य है, पृथ्वी पर इस स्रोत की एकता को अभिव्यक्त करना।

४ अगस्त १९४९

—श्रीमाँ

स्त्री और युद्ध^१

तुमने मुझसे पूछा है कि स्त्रियों के अधिकारों-सम्बन्धी आन्दोलन के विषय में मेरे क्या विचार हैं और वर्तमान युद्ध का उस पर क्या प्रभाव पड़ेगा।

युद्ध के एक पहले परिणाम के फलस्वरूप इस प्रश्न का एक बिलकुल ही नया पहलू प्रकाश में आया है। पुरुषों और स्त्रियों के बीच के सतत विरोध की निरर्थकता स्पष्ट रूप में सामने आ गयी है और इस संघर्ष के पीछे—जहाँ तक बाह्य तत्त्वों के साथ सम्बन्ध है—परिस्थितियों की गम्भीरता के फलस्वरूप, एक और बात भी प्रकाश में आयी है चाहे यह बाह्य रूप में न भी आयी हो, पर यह उपस्थित सदा रही है—कि मानवजाति के इन दो परस्पर पूरक अर्धांशों में वास्तविक सहयोग और सच्ची एकता की भावना है।

बहुत से पुरुष यह देख कर हैरान हुए थे कि कितनी सरलता से स्त्रियों ने उनके रिक्त स्थानों की पूर्ति कर दी थी; और उनकी इस हैरानी के साथ थोड़ा खेद भी जुड़ गया कि उनके सामने स्त्रियों का यह पक्ष कि वे उनके कार्य और संघर्ष में पूरा-पूरा हिस्सा बँटा सकती हैं इससे पहले क्यों नहीं उजागर हुआ। अब तक तो वे इन्हें प्रायः ही विषय-सुख और विनोद का साधन या अधिक-से-अधिक चक्की-चूल्हा सँभालने और बच्चों के पालन-पोषण के योग्य ही समझते थे। निश्चय ही स्त्री यह सब है, फिर भी इस सबको भली प्रकार कर सकने के लिए विशेष गुणों की आवश्यकता है, किन्तु वह केवल यही नहीं है, और इसे वर्तमान परिस्थितियों ने भली-भाँति सिद्ध कर दिया है।

अत्यधिक कठिन और संकटपूर्ण अवस्थाओं में, बल्कि शत्रुओं की आग उगलती तोपों के नीचे घायलों की सेवा करके इस तथाकथित स्त्रीजाति ने यह प्रमाणित कर दिया है कि वह शारीरिक शक्ति और सहनशीलता में पुरुषों के बराबर है। किन्तु जहाँ उन्होंने असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है वह है, उनकी व्यवस्थापन-योग्यता। मुसलमानों के आगमन से पहले भारतवर्ष में प्राचीन ब्राह्मण-युग में इस योग्यता को सब स्वीकारते थे। तब एक लोकोक्ति थी : “स्त्रियों द्वारा शासित सम्पत्ति का अर्थ है समृद्ध सम्पत्ति।” किन्तु पश्चिम में मध्यपूर्वी विचार ने रोमन विधान के साथ मिल कर उस समय के आचार-व्यवहार को इतना प्रभावित कर दिया कि स्त्रियों को प्रबन्ध-सम्बन्धी अपनी योग्यता दिखाने का अवसर ही नहीं मिला।

यह सत्य है कि फ्रांस में स्त्रियाँ अपने घरों और धन आदि की पूर्ण स्वामिनी समझी जाती हैं और फ्रेंच कहावत की “छोटी स्वामिनी” की सम्पत्ति इस प्रणाली के अच्छे पक्ष को दर्शाती है। फिर भी ऐसा विरले ही देखने में आता था कि स्त्री की योग्यता को किन्हीं बहुत महत्वपूर्ण कार्यों के लिए प्रयुक्त किया गया हो, और अभी तक भी लोक-प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर

^१ माताजी के इस लेख का अंग्रेज़ी अनुवाद—मूल रूप में यह फ्रेंच में था—जापान की “फ्र्यूजोशिबन” नामक पत्रिका में ७ जुलाई १९१६ में प्रकाशित हुआ था।

स्त्रियों की नियुक्ति नहीं की जाती। वर्तमान युद्ध ने यह दिखा दिया है कि स्त्रियों के सहयोग को अस्वीकार करके सरकारें इस मूल्यवान् सहायता से वञ्चित रह गयी हैं। मैं तुम्हें दृष्टान्त-स्वरूप एक घटना बताती हूँ।

युद्ध के छिड़ने से कुछ महीने पहले की बात है, जर्मनों ने बेल्जियम प्रदेश को पूरे-का-पूरा हस्तगत कर लिया था और आक्रान्त क्षेत्रों के निवासी बड़े कष्ट में थे। सौभाग्य से, कुछ धनी अमरीकन स्त्रियों और पुरुषों ने एक समिति बनायी जिसका काम था इन पीड़ित व्यक्तियों की ज़रूरी आवश्यकताओं की पूर्ति करना। कुछ सैनिक-हलचलों के फलस्वरूप, कई छोटे-छोटे गाँवों में खाने की वस्तुएँ बिलकुल चुक गयीं और अकाल की सम्भावना निकट आती प्रतीत होने लगी। इस अमरीकन समिति ने इसी प्रकार की कुछ अंग्रेज़-समितियों को सन्देश भेजा कि वे आवश्यक वस्तुओं से भर कर पाँच गाड़ियाँ तीन दिन तक वहाँ पहुँचा दें। जिन पुरुषों को यह सन्देश मिला उन्होंने उत्तर दिया कि ऐसा कर सकना असम्भव है। सौभाग्य से यह बात एक स्त्री के कानों में पड़ गयी, उसे ऐसे संकटपूर्ण समय में “असम्भव” शब्द का प्रयोग किया जाना बहुत बुरा लगा। यह स्त्रियों के एक ऐसे दल की सदस्या थी जो युद्ध में घायलों और पीड़ितों की सहायता करता था। उन्होंने तत्काल उस समिति को कहला भेजा कि वे यह काम करेंगी और तीन दिन में सामान वहाँ पहुँचा देंगी। इसमें बहुत-सी बाधाएँ और कठिनाइयाँ आयीं, विशेषकर यातायात के सम्बन्ध में जिन्हें पार करना बहुत ही कठिन कार्य था, पर प्रबन्धकुशल मन और दृढ़ संकल्प ने यह चमत्कार कर दिखाया। सामान ठीक समय पर यथास्थान पहुँचा दिया गया और अकाल टल गया।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि इस युद्ध से केवल स्त्री के विशेष गुण ही उजागर हुए हैं, उसकी दुर्बलताएँ, उसके दोष, उसकी संकीर्णता को भी प्रकाश में आने का अवसर मिला है और यह निश्चित है कि यदि स्त्रियाँ राष्ट्रों के प्रशासन में भाग लेना चाहती हैं तो उन्हें ये बातें सीखनी होंगी : आत्मसंयम, उदार एवं विस्तृत दृष्टिकोण और चिन्तन, बौद्धिक नमनीयता और अपनी भावुक अभिरुचियों का विस्मरण, तभी वे लोक-प्रशासन में भाग ले सकेंगी।

केवल पुरुषों की राजनीति अयोग्य सिद्ध हो चुकी है; क्योंकि वे अपने व्यक्तिगत हित और निरंकुश और उग्र कार्यों की खोज में ही लगे रहे और असफल रहे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्त्रियों की राजनीति निःस्वार्थता और अधिक मानवीय समाधानों की प्रवृत्ति को जन्म देगी। किन्तु सामान्यतया स्त्रियाँ भावोद्वेग और अत्यधिक पक्षपात की शिकार हो जाती हैं, कम-से-कम वर्तमान स्थिति में, और यह दुर्भाग्य की बात है। उनमें उस तर्कसंगत स्थिरता का अभाव होता है जो विशुद्ध बौद्धिक कर्म से प्राप्त होती है। विशुद्ध बौद्धिक क्रिया निःसन्देह थोड़ी है खतरेवाली क्योंकि वह कठोर तथा ऊष्मा और दया से हीन होती है, तो भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह भावुकता के प्रवाह को रोकने में लाभप्रद होती है, क्योंकि भावुकता के लिए सामूहिक हितों के शासन में कोई स्थान नहीं।

यदि स्त्रियाँ पुरुषों के स्थान पर काम करने लगे तो इन दोषों की गम्भीरता सामने आयेगी

ही, पर यदि दोनों परस्पर सहयोग से कार्य करें तो ये ही दोष पुरुष के दोषों की क्षतिपूर्ति कर देंगे। इससे दोनों धीरे-धीरे अपने में पूर्णता लाते जायेंगे। स्त्री को घर के घरेलू कार्यों तक सीमित रखना और पुरुष बिलकुल बाहर रह कर सामाजिक काम-धन्धों में लगा रहे—यह बात वर्तमान स्थिति को लम्बा ही करेगी, जिससे दोनों दुःख पा रहे हैं। इन दोनों क्षेत्रों को अलग नहीं बल्कि जोड़ कर रखना चाहिये। बल्कि होना ऐसा चाहिये कि दोनों को अपने-अपने गुणों के साथ विश्वास और दृढ़तापूर्वक सर्वोच्च कर्तव्यों और भारी उत्तरदायित्वों को निभाना चाहिये।

दुर्दान्त शत्रुओं के रूप में इन दोनों में जो युद्ध चल रहा है उससे उत्पन्न इस विरोधी वृत्ति की समाप्ति का क्या अभी समय नहीं आया है? राष्ट्रों को इस समय बड़ा कठिन और कष्टप्रद पाठ सीखना पड़ रहा है। पुराने खण्डहरों के ऊपर अधिक सुन्दर और सुसंगत इमारतें बनायी जा सकती हैं। अब समय थोड़ी प्रतियोगिताओं और स्वार्थपूर्ण मॉर्गों का नहीं है; समस्त मानवजाति को, स्त्रियों और पुरुषों को, एक ही प्रयत्न में लग जाना चाहिये और वह है उस सर्वोच्च आदर्श के प्रति सचेतन होना जो अब अपनी पूर्ति चाहता है और उसकी चरितार्थता के लिए लगन के साथ काम करना। अब जिस प्रश्न का समाधान करना है वह केवल उनकी बाह्य गतिविधियों का अधिक अच्छी तरह उपयोग करना ही नहीं है वरन् अन्दर के एक आन्तरिक आध्यात्मिक विकास को साधित करना है। अन्दर के विकास के बिना बाह्य विकास हो ही नहीं सकता।

अतएव, स्त्री-आन्दोलन की समस्या संसार की अन्य सभी समस्याओं के समान अन्त में एक आध्यात्मिक समस्या बन जाती है। कारण, सब वस्तुओं का आधार आध्यात्मिक सत्य ही है। दिव्य जगत्, बुद्धधर्म की “धम्मता” ही वह सनातन आधारशिला है जिसके ऊपर अन्य सब जगत् खड़े हैं। इस सर्वोच्च सत्य के सामने सब स्त्री-पुरुष समान हैं, उनके अधिकार, कर्तव्य सब एक हैं। इस क्षेत्र में केवल एक ही विभेद हो सकता है जो सच्चाई, अभीप्सा की तीव्रता और दृढ़ संकल्प-शक्ति पर आधारित है। इस मूलभूत आध्यात्मिक समानता को स्वीकार करके ही दोनों के सम्बन्ध की समस्या का गम्भीर एवं स्थायी समाधान हो सकता है। इसी प्रकाश के सामने इसे खड़ा करना होगा और इसी ऊँचाई को इसके कर्म और नये जीवन का केन्द्र बनना होगा, तभी इसके चारों ओर मानवजाति के भव्य भावी मन्दिर का निर्माण होगा।

(सम्पादकीय नोट : यह अनुवाद हमें माताजी के ही हस्तलेख में प्राप्त हुआ, शायद इसे किया किसी और ने हो और माताजी ने इसे संशोधित किया हो।)

जड़वाद का सिद्धान्त

जीवन और जड़-भौतिक के साथ मनुष्य की यह तन्मयता शुरू में ठीक और ज़रूरी है क्योंकि मनुष्य को जो पहला क़दम उठाना है वह है इस भौतिक को अच्छे-से-अच्छी तरह जानना और इस पर अधिकार करना—जहाँ तक वह अपने ऐन्द्रिय मन से प्राप्त होने वाले अनुभव कर अपने विचार और बुद्धि का प्रयोग करते हुए कर सकता है। लेकिन यह एक प्रारम्भिक क़दम है। अगर हम यहीं रुक जायें तो हम कोई वास्तविक प्रगति न कर पायेंगे। हम जहाँ थे वहीं होंगे और हमने सिर्फ़ हिलने-डुलने के लिए कुछ भौतिक स्थान प्राप्त कर लिया है और सापेक्ष ज्ञान और अपर्याप्त, अस्थिर आधिपत्य को प्रतिष्ठित करने के लिए अपने मन के लिए अधिक शक्ति प्राप्त कर ली है और भौतिक शक्तियों और सत्ताओं की भीड़ के बीच धक्कम-धक्का करने और चीज़ों को धकियाने की सामर्थ्य प्राण-कामना के लिए हमने पा ली है। भौतिक विषयगत ज्ञान का अधिकतम विस्तार, चाहे वह दूरतम सौर मण्डलों और धरती तथा सागर की गभीरतम परतों और जड़-भौतिक द्रव्य और ऊर्जा की सूक्ष्मतम शक्तियों का आलिंगन भी क्यों न कर ले, वह हमारे लिए तात्त्विक लाभ नहीं है, वह एकमात्र चीज़ नहीं है जिसे प्राप्त करने की हमें सबसे अधिक आवश्यकता है। इसीलिए भौतिक विज्ञान की चमकती हुई विजयों के बावजूद जड़वाद का सिद्धान्त अपने-आपको अन्त में एक व्यर्थ और असहाय मत सिद्ध करता है और यही कारण है कि भौतिक विज्ञान अपनी सभी उपलब्धियों के बावजूद, चाहे वह आराम प्राप्त कर ले, लेकिन मानवजाति के लिए सुख और सत्ता की पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता। हमारा सच्चा सुख हमारी सम्पूर्ण सत्ता के सच्चे विकास में, अपनी सम्पूर्ण सत्ता के समस्त क्षेत्र में विजय पाने और बाह्य और उससे भी अधिक आन्तरिक पर गुप्त, और साथ ही प्रकट प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व पाने में है। हमारी सच्ची सम्पूर्णता, हम जिस लोक से शुरू करते हैं उसी पर अधिकाधिक बड़े-बड़े चक्कर काटते रहने से नहीं बल्कि उसके अतिक्रमण से आती है।

—श्रीअरविन्द, 'दिव्य जीवन', पृ. ७१९-२०

अपने विशिष्ट कार्य के प्रति मैं कैसे सचेतन हुई

पृथ्वी पर अपनी भूमिका को मैंने कब और कैसे जाना? और कब और कैसे मैं श्रीअरविन्द से मिली?

इन दो प्रश्नों के उत्तर तुमने मुझसे पूछे हैं और मैंने तुम्हें इनका संक्षिप्त उत्तर देने का वचन भी दिया था।

इस कार्य का मुझे कब ज्ञान हुआ यह कहना कठिन है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है मानों मैं इसके साथ ही जन्मी थी, ज्यों-ज्यों मेरा मन और मस्तिष्क विकसित होते गये, त्यों-त्यों यह भी अधिकाधिक मेरे सामने स्पष्ट और यथार्थ होता गया।

११ और १३ वर्ष की आयु के बीच मुझे एक के बाद एक कई आन्तरात्मिक और आध्यात्मिक अनुभव हुए जिन्होंने मुझे भगवान् के अस्तित्व का दिग्दर्शन ही नहीं कराया वरन् यह भी बताया कि मनुष्य उनके साथ युक्त हो सकता है, उन्हें चेतना और कर्म में पूर्णतया प्राप्त कर सकता है, साथ ही उन्हें पृथ्वी पर एक दिव्य जीवन में अभिव्यक्त भी कर सकता है। जब मेरा शरीर सोता होता था तो मुझे इस सबको चरितार्थ करने की तथा उसके लिए क्रियात्मक अनुशासन की भी शिक्षा कई शिक्षकों से प्राप्त हुई जिनसे मैं बाद में भौतिक स्तर पर मिली भी।

बाद में जब मेरा आन्तरिक और बाह्य विकास आगे बढ़ा तो इनमें से एक के साथ मेरा आध्यात्मिक और आन्तरात्मिक सम्बन्ध अधिक स्पष्ट हो उठा और मैं उनसे अधिक बार मिलने लगी। मुझे तब भारतीय दर्शन-शास्त्रों और धर्मों का अधिक ज्ञान नहीं था, पर मैं उन्हें कृष्ण कहती थी, और तब से मैं जान गयी कि इन्हीं के साथ मुझे भगवान् का कार्य करना है (और मैं जानती थी कि मैं इन्हें एक दिन पृथ्वी पर भी मिलूंगी)।

१९१० में मेरे पति अकेले पॉण्डिचेरी आये और यहाँ बड़ी विशेष और मनोरञ्जक परिस्थितियों में वे श्रीअरविन्द से मिले। तब से हम दोनों की ही भारत आने की तीव्र इच्छा थी—इस देश को मैंने सदा से अपनी मातृभूमि माना है। अन्त में १९१४ में हमें यहाँ आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

ज्यों ही मैंने श्रीअरविन्द को देखा मैंने उनके अन्दर की उस सत्ता को पहचान लिया जिसे मैं कृष्ण कहा करती थी... और यह इस बात को बताने के लिए काफ़ी है कि मेरा स्थान और मेरा कार्य उन्हीं के पास, भारत में है।

पॉण्डिचेरी १९२०

—श्रीमाँ

श्रीअरविन्द के उत्तर (७८)

कामुक आदेश से पूरी तरह पिण्ड छुड़ाना शायद बहुत कठिन हो, लेकिन मैं जिस चीज़ को एकदम से खो बैठता हूँ वह है, वह इच्छा-शक्ति जो स्पर्श या उससे भी गम्भीर चीज़—भोग—की बाहरी अभिव्यक्ति को रोक सकती है। हाँ, व्यक्ति का इधर-उधर कुछ प्राणिक आदान-प्रदान होता ही रहता है, लेकिन सामान्यतः यह चीज़ स्पर्श करने इत्यादि तक नहीं जाती। मैं या तो किसी-न-किसी रूप में अपनी सत्ता को औरों से ज़्यादा ऊँचा मान कर इसका लाभ उठा रहा हूँ या फिर मैं आसानी से औरों की इच्छा के बहकावे में आ जाता हूँ।

ऐसा इसलिए होता है क्योंकि तुमने कुछ समय तक अपने-आपको आवेश की नहर में बहने की अनुमति दे दी—व्यक्ति जब यह भौतिक चेतना में करता है तो आवेशों के वशीभूत हो जाने की आदत बन जाती है। जब कभी इच्छा क्रिया करना चाहती है तो वह आवेश की “चुस्की” की इस आदत को सामने पाती है और फिर बहक जाती है। मैं भौतिक चेतना का पिछले तीन सालों से निरीक्षण कर रहा हूँ और देख रहा हूँ कि “स्वभाव के वशीभूत हो” व्यक्ति का पूरा स्नायु-तन्त्र गड़बड़ा जाता है—इसे मैं भौतिक स्वभाव का “तमस्” कहता हूँ। शरीर के लिए इस मज्जागत आदत को ठीक करना बहुत तकलीफ़देह और क्लान्तिकर होता है, आवेश की नहर के विरुद्ध तैरना और उसकी गतियों का निषेध करना बहुत मुश्किल होता है, लेकिन इसे करना तो होगा ही—बस इसमें समय ज़रूर लगता है। जैसा कि मैंने सुझाव दिया था, अगर ऊपर से मानसिक इच्छा की ‘शक्ति’ नीचे उतर कर अपनी क्रिया को प्रतिष्ठित कर दे तो कार्य ज़्यादा आसानी और ज़्यादा तेज़ी से सम्पन्न हो सकता है—क्योंकि मानसिक इच्छा के प्रतिष्ठित होने का अर्थ ही है—तपस्या की अधिकता, लेकिन दूसरी क्रिया अधिक यान्त्रिक होती है और उसमें बहुत अधिक सचेतनता की भी आवश्यकता होती है।

प्राण का कामुक पहलू बड़ा कपटी है—यह तो स्पष्ट ही दीख रहा है। मैं तो इसकी लाल कपटी मुस्कान, उच्चतर भागों को चुनौती देती हँसी और उनका मज़ाक उड़ाने की क्रिया को प्रायः देख रहा हूँ। लेकिन सामान्य संयम का इतना ज़्यादा अभाव क्यों भला? बात बस इतनी-सी है कि मैं उसके कमरे में जाकर उससे आँख न लड़ाऊँ—ऐसी चीज़ जो आश्रम का हर एक व्यक्ति अपनी सभी कठिनाइयों के बावजूद कर सकता है। प्राण की यह लूटपाट पहले से ज़्यादा दीख रही है—मुझे मालूम नहीं कि उसके बदलने की कोई सम्भावना है भी या नहीं?

इसके बदलने की सम्भावना हमेशा रहती है—लेकिन जब सत्ता पर सेक्स की मज़बूत पकड़ होती है तो उससे पीछा छुड़ाना हमेशा कठिन होता है। इसमें शायद मानसिक इच्छा-शक्ति से ज़्यादा किसी चीज़ की ज़रूरत होती है—पूरी तरह से छुटकारा पाने के लिए ऊपर से किसी प्रबलतर 'शक्ति' की आवश्यकता होती है।

२२ मार्च १९३५

कल, जब मैं 'न' के साथ 'स' के यहाँ था, दवाइयों के बारे में मेरी मानसिक गतिविधि में अचानक एक बदलाव आ गया। मैंने देखा कि 'न' के साथ बातचीत करते हुए जब मैं पाठ्य-पुस्तकों पर सरसरी निगाह डाल रहा था तो उन्हें पहले की अपेक्षा कहीं ज़्यादा आसानी से समझ पा रहा था। और चार सालों के बाद यह चीज़ ज़्यादा दिलचस्प भी लगी, कम-से-कम चिकित्सा-शास्त्र की ठोस बौद्धिक कलाबाज़ी मेरे पल्ले पड़ रही थी!

निस्सन्देह, बहुत रुचिकर है यह चीज़—और वर्तमान परिस्थितियों में तो स्पष्ट रूप से रुचिकर। बस असुविधा यह है कि यह चीज़ बीमारी का वातावरण पैदा कर देती है। जब हमारे यहाँ कोई डॉक्टर, कोई औषधालय न था (कम-से-कम प्रैक्टिस करता हुआ कोई डॉक्टर न था) तब हमारे यहाँ बीमारियाँ नहीं थीं, या होती भी थीं तो बहुत मामूली और वे आते ही चली भी जाती थीं, क्योंकि जब वे आती थीं तो उनका स्वागत करने वाला कोई होता ही नहीं था!

२३ मार्च १९३५

आज रात 'स' की मांसपेशियों की ऐंठन कुछ ज़्यादा ही गम्भीर थी। पहले आँखें पथरा कर फैल-सी गयीं; फिर हाथों की नसों में मरोड़ें उठने लगीं, चेहरा बिगड़ने लगा और गरदन में ऐंठ आने लगी। दो-एक मिनट बाद वह ऐंठन घटने लगी और उसकी साँस गहरी होने और फूलने लगी। फिर सब कुछ एकदम ढीला पड़ गया और वह गहरी नींद में सो गया। कल रात उस प्रहार के पहले ९.२० को मैंने दो सुनहरी पत्तरे देखीं, उसके बाद देखा एक बाघ, उसके पाँच मिनट बाद ही 'स' का यह दौरा शुरू हो गया। जब मैंने उसकी आँखों की ओर देखा तो मेरे अन्दर एक ठण्डी सिहरन लहरायी, और ऐसा लगा मानों कोई दूसरी सत्ता उसके अन्दर घुस गयी हो—वह नज़र बहुत ही अजीब थी। सवरे हर पौन घण्टे में वह दौरा आया, यहाँ तक कि हस्पताल जाते वक़्त रास्ते में भी दौरा पड़ा। मुझे तो ये एक तरह की मिरगी के दौरे लगते हैं, लेकिन कोई सत्ता उस पर आक्रमण कर रही हो तो?

यह मिरगी है। मुझे शुरू से ही इसका अन्दाज़ा लग गया था—जब पहला प्रहार आया था और

उससे वह गिर पड़ा था; लेकिन उसकी इतनी गम्भीर हालत सिर के बल गिर कर आघात लगने से हो गयी होगी—वरना हो सकता है कि इस चीज़ को बढ़ने में ज्यादा समय लगता।

मिरगी के दौरों पड़ना अपने-आपमें प्राणिक प्रहार का ही चिह्न होता है, भले उसके पीछे भौतिक कारण क्यों न हो—प्रहार करने वाली शक्ति मानसिक और प्राणिक सत्ता को विक्षुब्ध न कर पाने के कारण शरीर पर टूट पड़ती है और अपनी क्रिया के आधार के लिए किसी भौतिक कारण (जो व्यक्ति में सोया पड़ा हो या पनप रहा हो) का उपयोग करती है। क्योंकि वह प्रत्येक चीज़ जो शरीर में उतरती है उसे अभिव्यक्त होने के लिए कोई भौतिक सहारा तो अवश्य ही चाहिये।

डॉ. आन्द्रे ने सोचा कि यह मिरगी का बहुत खतरनाक दौरा है, लेकिन शल्य-चिकित्सक का कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि अगर ऐसा होता तो वह प्रकट होने में काफ़ी समय लेता। उनका अनुमान है कि इसका कारण वंशानुगत सिफ़िलिटिक (उपदंश) हो या फिर मस्तिष्क में अर्बुद (ट्यूमर) हो। मैं आशा करता हूँ कि यह अर्बुद न हो, क्योंकि फिर इसकी कोई चिकित्सा सम्भव नहीं होगी। यह सब फ़िलहाल अनुमान लगाना है। लेकिन निश्चित रूप से यह मिरगी है।

शल्य-चिकित्सक का तो पक्का मानना है कि यह सिफ़िलिसी गाँठ ही है और वह उसके अन्दर पारा चढ़ा रहा है, जो काम करता बिलकुल नहीं जान पड़ रहा, क्योंकि लक्षण बढ़ते जा रहे हैं। 'न' का कहना है कि रात में बहुत तकलीफ़ होगी। ऊपर से उन्होंने बाबिस्की के लक्षण भी देखे (इसमें अँगूठा मुड़ कर ऊपर उठ आता है और बाक़ी उँगलियाँ फैल जाती हैं) जिसका अर्थ है कि उसके पिरामिडल पथ (स्नायु-सम्बन्धी) में भी अवरोध है। अगर यह मिरगी है तब तो उसे शामक औषधियाँ देनी ही होंगी। लेकिन प्रश्न है कि क्या वह सुरक्षित रूप से रात गुज़ार पायेगा?

उनका कहना है कि इंजेक्शन अपना असर—अगर कोई असर हुआ—तीस घण्टे बाद ही दिखलायेंगे। अगर यह पूरी-पूरी मिरगी न भी हो फिर भी इसमें इसके रोग तो साफ़ दिखायी दे रहे हैं, और यह भी कि कहीं कोई रुकावट है। अगर केवल घाव की बात है तो चिकित्सक कहता है कि किताबों का कहना है कि यह चीज़ अन्दर एक महीने या कुछ महीनों से रही होगी जो अब इस तरह निकल आयी। ज़रूर कोई बीमारी रही होगी जो इस तरह प्रकट हो रही है और ज़ख़्म तथा दर्द इतने भयंकर हो गये हैं कि संकट की ओर बढ़ चले हैं। वैसे यह सब अभी तक अनुमान लगाना ही है—अर्थात्, परिणाम देख कर अनुमान लगाये जा रहे हैं। वैसे, चिकित्सा-विज्ञान में तो व्यावहारिक रूप से यही होता है, हालाँकि हर एक बीमारी का सिद्धान्त ठीक हो सकता है—लेकिन गम्भीर मामलों में निदान तो अनुमान या अन्दाज़ से ही निकालना होता है। 'स' का बचना उसकी नियति पर निर्भर है—या फिर किसी ऐसी चीज़ पर जो हस्तक्षेप

करके उसकी नियति को बदल दे; क्योंकि उसका शरीर हमेशा से प्रहारों का शिकार रहा है, दुर्भाग्य उसके चारों ओर मँडराता रहता है।

२४ मार्च १९३५

अगर गाँवों में किसी को इस तरह के दौरे पड़ें या वह बहकने लगे तो गाँववाले प्रायः यही सोचते हैं कि यह सब किसी भूत-बाधा की वजह से हो रहा है, लेकिन हम इसे अन्धविश्वास कहते हैं। अगर मिरगी प्राणिक प्रहार है तो वातोन्माद (हिस्टीरिया) या उन्माद भी उसी की जाति के हैं। हिस्टीरिया के दौरान कम-से-कम व्यक्ति के अन्दर जो प्रचण्ड बल आ जाता है वह उसका नहीं होता—वह उस सत्ता का होता है जो अस्थायी रूप से उस पर हावी हो जाती है। लेकिन किसी व्यक्ति को इस तरह जकड़ लेने में भला उस सत्ता को कौन-सी खुशी मिलती है, वह तो खुद अपने लिए संघर्ष पैदा कर देती है, क्योंकि उस व्यक्ति का अहंकार निश्चय ही उस सत्ता के साथ मुठभेड़ करने के लिए आ खड़ा होगा, नहीं क्या? या फिर प्रत्येक बीमारी के पीछे एक सत्ता प्रतिष्ठित होती है जो अपनी फौज को उस व्यक्ति पर धावा बोलने के लिए भेजती है और व्यक्ति के संघर्ष और असामान्य लक्षणों को देख कर उसे खुशी मिलती है?

उन्माद हमेशा किसी प्राणिक प्रहार के कारण या यह कहें कि उसके द्वारा अभिभूत होने के कारण आता है, हालाँकि बहुत बार उसके पीछे भौतिक कारण भी रहता है। हिस्टीरिया या वातोन्माद प्राणलोक के किसी दबाव के कारण होता है और अस्थायी रूप से व्यक्ति इसकी जकड़ में भी आ जाता है। सामान्य प्रलाप के लिए यह बात नहीं कही जा सकती क्योंकि उसके कारण भौतिक होते हैं—हाँ, वैसे कहा जाये तो सभी बीमारियाँ 'प्रकृति' की निम्न शक्तियों का ही आक्रमण होती हैं, लेकिन ये निम्न शक्तियाँ प्राणिक सत्ताएँ, या हम जिन्हें विशेष रूप से विरोधी शक्तियाँ कहते हैं, वे नहीं होतीं। ये बस प्रकृति में अपनी भूमिका निभाती हैं और बहुत सम्भव है कि हर एक तरह की बीमारी के पीछे छोटी-मोटी कोई शक्ति बैठी हो—बंगाल में इन शक्तियों को विशेष नाम दे दिया जाता है और वहाँ इनकी पूजा होती है ताकि ये हमारे घर के दरवाज़े न खटखटायें। लेकिन जैसा कि मैंने कहा, ये शक्तियाँ होती हैं, विरोधी या भयंकर प्राणिक सत्ताएँ नहीं।

रही बात प्राणिक सत्ताओं की मनुष्यों पर अधिकार जमाने की—प्राणिक लोक की सत्ताओं का गठन मनुष्यों के जैसा नहीं होता—तो वे संघर्ष, दुःख-दर्द और अव्यवस्था में मज़ा लेती हैं—यह उनकी स्वाभाविक प्रकृति होती है। धरती पर जन्म लिये बिना, चैत्य सत्ता को विकसित किये बिना, भगवान् की ओर उठे बिना, वे भौतिक जीवन का स्वाद लेना चाहती हैं। वे जैसी हैं वैसी ही बनी रह कर भौतिक जगत् और भौतिक शरीर के साथ अपना मनोरञ्जन करना चाहती हैं।

२५ मार्च १९३५

‘स’ की मृत्यु और सारे वातावरण में फैले उसके प्रभाव के बारे में हमारी ‘क’ के साथ लम्बी बातचीत हुई। निश्चय ही ‘क’ यह समझने के लिए काफ़ी समझदार है, कई दूसरे इसे स्वाभाविक मानेंगे। लेकिन कुछ लोग ‘भगवान्’ की क्षमता पर सन्देह कर सकते हैं, या उनके अन्दर बीमारी के सुझाव आ सकते हैं, या वे इस चीज़ पर बड़ी गम्भीरता से विचार कर सकते हैं। मेरे खयाल से कुछ लोगों का यह विचार है कि यहाँ भौतिक मृत्यु नहीं होती—जैसे ही व्यक्ति आश्रम में प्रवेश करता है, मृत्यु और रोग नहीं रहते। व्यक्ति को और कुछ नहीं करना होता, और सामान्य जीवन जीना होता है। एक तरफ़ तो अमरता का विचार था और दूसरी तरफ़ मन हमेशा शरीर के संरक्षण की ओर झुका रहता था। जड़-भौतिक का रूपान्तर और अमरता—इन दो विचारों ने शरीर तथा बाहरी व्यक्तित्व के साथ तादात्म्य पाने की चाह को इतना बढ़ा दिया है कि वे भी जो अपने शरीर पर कम ध्यान दिया करते थे, अब इसके बारे में बहुत सावधान हो गये हैं।

मेरी समझ में नहीं आता कि वे भला यह कैसे सोच सकते थे कि एक बार आश्रम में आने के बाद बीमारियाँ नहीं रहेंगी, जब कि कितने ही यहाँ गम्भीर रोगों के शिकार हुए हैं—हाँ, यह बात अलग है कि पिछले कुछ महीनों से लोग ऐसे बीमार नहीं पड़े। और फिर, काफ़ी पहले दो की मृत्यु भी हो चुकी है—‘द’ की बच्ची की (हाँ, तब वह आश्रम से बाहर थी) और ‘अ’ की माँ की।

रही बात अमरता की, वह तब तक नहीं आ सकती जब तक शरीर के साथ आसक्ति बनी रहती है—क्योंकि अपने शरीर के अमर भाग में रह कर ही—जो शरीर के साथ एकात्म नहीं होता—और उसकी चेतना तथा शक्ति को कोषाणुओं में प्रवेश करा कर ही अमरता आ सकती है। निस्सन्देह, मैं यौगिक साधन की बात कर रहा हूँ। अब वैज्ञानिक यह मानने लगे हैं (कम-से-कम सिद्धान्त रूप में) कि ऐसे भौतिक साधनों की खोज हो सकती है जिनसे मृत्यु को जीता जा सके, लेकिन उसका अर्थ होगा, वर्तमान शरीर में, वर्तमान चेतना का दीर्घाकरण। जब तक कि चेतना में और उसकी क्रियाओं में बदलाव नहीं आता, तब तक वह लाभ सचमुच लाभ न होगा।

कैसी अजीब बात—पिछले महीने २५ तारीख को ‘स’, ‘ह’ और ‘क’ घर गये थे और आज भी तीन लोग गये। लगता है कि इस साल २५ तारीख को जाने का दिन चुना गया है।

आज तीन में से दो का जाना (‘च’ और उसकी पत्नी) सामान्य ही था, ये हर साल जाते हैं, लेकिन हाँ, इस साल वे वापस आयेंगे या नहीं, इसमें सन्देह है, क्योंकि उन्होंने यहाँ का घर छोड़

दिया है। लेकिन सचमुच वैसे वे आश्रम के सदस्य नहीं थे और जहाँ तक 'च' की बात है, वह तो अपने ही योग का अनुसरण कर रहा था जिसमें उसका कहना है कि उसे पूरी स्वतन्त्रता है।

कई सालों तक २५ फ़रवरी, २५ मार्च श्रीमाँ तथा रिचर्ड और उनके मित्रों के जाने के दिन रहे—रिचर्ड का पहली बार यहाँ से जाना, दूसरी बार जाना, उन दोनों का यहाँ से जाना, कोलम्बो से फ़्रांस की यात्रा के लिए उनका निकलना, मेरे ख़याल से, जापान के लिए उनका यहाँ से यात्रा आरम्भ करना—सब कुछ इन्हीं तारीख़ों में हुआ। यह रिचर्ड की "लय" थी जिसमें वह बहुत ज़्यादा विश्वास रखता था—बाद में माँ ने इसे तोड़ दिया।

'कोलोनिअल गार्डन' में पौधों और फूलों की प्रदर्शनी लगने वाली है। 'र' का कहना है कि उसकी 'पेंटिंग्स' वहाँ भेज दी गयी हैं। 'म' ३० तारीख को जा रहा है और मैं सोच रहा था कि अगर इसमें कोई हानि न हो तो मैं भी उसके साथ चला जाऊँ। लेकिन वहाँ प्रवेश-शुल्क लगेगा।

हाँ, तुम जा सकते हो। प्रवेश-शुल्क कितना है? यह तो सामान्य "Kermesse" मेला होता है, जहाँ चीज़ें बिकती भी ख़ूब हैं। मैं आशा करता हूँ कि वे तुमसे १००० रुपयों की चीज़ें ख़रीदने की आशा नहीं रखेंगे!!

२६ मार्च १९३५

अगर वैज्ञानिक कोई ऐसा उपाय पा लें जिससे वे हमेशा के लिए रह सकें तो इस भौतिक अमरता को पाकर वे करेंगे क्या? वे शायद एक बौद्धिक और प्राणिक जीवन जीते रहें। लेकिन शायद रासायनिक तौर पर प्राणिक जीवन जीना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि तब वह शरीर को क्षीण करने लगेगा। हाँ, अगर वे हठयोग में उद्धृत खेचरी का चन्द्रामृत पा लें और प्राणायाम सीख कर कालपुरुष को छलावा दे सकें तो कुछ समय तक शीतनिद्रा में सोकर फिर अपना सामान्य जीवन जी सकते हैं, और ऐसा ही चलता चला जा सकता है। लेकिन एक या दो सदियों के बाद क्या वे एक ही तरह के जीवन से थक कर चूर नहीं हो जायेंगे? शायद उस बिन्दु पर वे आध्यात्मिक जीवन जीना शुरू कर दें।

जीवन से थक जाने की तुम्हारी बात सच है। ऐडिसन-परिवार ने बहुत लम्बी उम्र पायी थी, लेकिन सौ साल बाद परिवार के दादाजी को यह काल बहुत लम्बा लगा और वे मरना चाहते थे इसलिए उन्होंने शरीर छोड़ दिया। दूसरी ओर, ऐसे भी लोग हैं जो प्राणिक रूप से बहुत मज़बूत हैं और ज़िन्दगी से थकते ही नहीं, जैसा कि एक तुर्की था जिसका अभी हाल में देहान्त हुआ, उसकी उम्र १५० साल की थी, लेकिन मेरे ख़याल से वह फिर भी और जीने के लिए

बहुत उत्सुक था।

आज क्या लिखूँ मुझे मालूम नहीं। मेरी समझ में नहीं आता कि भला क्यों मुझे रोज़ाना लिखना होता है जब कि अधिकांश लिखे बिना आसानी से रह सकते हैं? आपको बिना लिखे वे शान्तिपूर्वक सुखद जीवन जी रहे हैं। मेरे अन्दर कौन-सी इतनी बुरी चीज़ है कि मुझे हमेशा लिखना होता है?

अगर तुम्हें यह क्लेशकर लगे तो तुम लिखने को बाध्य नहीं हो।

२७ मार्च १९३५

श्रीमाँ की प्रार्थना पढ़ते समय 'ब' उन लोगों की आलोचना करने में जुट गया जो निवृत्ति में चले गये हैं। उसका कहना है कि निवृत्त होने पर लोग बहुत आराम महसूस करते हैं, लेकिन जब वे उस अवस्था से बाहर निकलते हैं तो अपनी अवचेतना से उठती चीज़ों को देख कर आश्चर्य में पड़ जाते हैं। प्रार्थना का सार यही था, और उसने इसके साथ 'अ' और 'ह' के उदाहरण जोड़ दिये जो निवृत्त हो चुके हैं, लेकिन उनके सामने यह खतरा हमेशा बना रहता है। मैंने कहा कि ऐसा सबके साथ नहीं होता, हालाँकि यह सच है कि कुछ लोग असन्तुलित हो जाते हैं।

यह व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करता है। ऐसा नहीं लगता कि 'अ' के निवृत्ति से बाहर निकल आने पर वह विक्षुब्ध हो जायेगा या उसकी अवचेतना उस पर प्रहार करती रहेगी। औरों के साथ यह सच हो सकता है। लेकिन जो असन्तुलित हो गये थे वे अपने निवृत्ति-काल में भी उस अवस्था में चले गये थे, ऐसी बात नहीं है कि उसमें से निकलना उनके असन्तुलन का परिणाम था।

२८ मार्च १९३५

एक अख़बार में मैंने युद्ध के लिए इटली की तैयारी के बारे में पढ़ा। 'क' और 'त्र', जो नियमित अख़बार पढ़ते हैं, उनसे मुझे यूरोप की स्थिति के बारे में कुछ सूचनाएँ मिलीं। मैं कई बार सोचता हूँ कि मेरे जैसे लोग अख़बार बिना पढ़े भला कैसे लाभान्वित रहते हैं, जब कि जो लोग रोज़ाना पढ़ते हैं उनकी अपेक्षा हमें कहीं ज़्यादा बदतर अवस्थाओं से जूझना पड़ता है। 'न', 'अ', यहाँ तक कि 'ड' भी पढ़ता है। अख़बार पढ़ कर वे किस तरह किसी चीज़ को खो बैठते हैं? मुझ पर लगे इन सब बाहरी नियम-क़ानूनों से मैं हताश हो गया हूँ, क्योंकि केवल यही कारण नहीं है कि अगर मैं अख़बार पढ़ूँ तो मैं आगे नहीं बढ़ूँगा। इसके पीछे ज़रूर कोई ज़बरदस्त चीज़ होगी और केवल बाहरी नियमों को अपने ऊपर लागू करने

से काम नहीं चलेगा।

निस्सन्देह, केवल बाहरी नियमों का पालन करना पर्याप्त नहीं है। वे तो आन्तरिक प्रयास के बस तब तक सहायक होते हैं जब तक कि आन्तरिक चेतना पूरी तरह से प्रतिष्ठित नहीं हो जाती। सामान्यतः, साधारण तरीके से बहुत अखबार पढ़ने से व्यक्ति चीज़ों के प्रति सामान्य दृष्टिकोण से ही बँधा रहता है और उसी में दिलचस्पी लेता है—जब व्यक्ति आन्तरिक चेतना में रहता है तो वह संसार की घटनाओं को ज्ञान की दृष्टि से देख सकता है और तब वह पढ़ना किसी काम का हो सकता है, हालाँकि जो कुछ छपता है उसमें से अधिकांश छिछला और खोखला होता है। लेकिन केवल न पढ़ना अपने-आपमें असरदार नहीं होता। साथ ही, अगर व्यक्ति कुछ मनबहलाव चाहे तो कुछ समय के लिए अखबार पढ़ा जा सकता है।

मैं सभी चीज़ों में असफल रहा—मैं जहाँ कहीं गया, मैंने जो कुछ किया। विद्यालय में मुझे आधी सफलता मिली; कॉलेज में मेरी शुरुआत तो बढ़िया रही, लेकिन अन्त प्रायः असफल ही रहा; चिकित्सा-शास्त्र में भी यही हाल रहा; राष्ट्रीय कार्य या जेल-यात्रा वगैरह में भी समान परिणाम रहे—पहले तो चमका, फिर गिरा। और अन्त में, मेरी साधना भी असफलता के कगार पर पहुँच गयी है। मानों मैं अपने साथ असफलता का वातावरण लिये फिरता हूँ। मेरी समझ में नहीं आता कि इन असफलताओं का रहस्य क्या है—शायद बहुत ऊँचा लक्ष्य रखने का दर्प और उसे निरन्तर बनाये रखने की अक्षमता।

सामान्यतः यह चीज़ निम्न प्राण की किसी अस्थिरता के कारण आती है जो परम इच्छा का अनुकूल समर्थन नहीं करती, बल्कि वह हमेशा अशान्त रहती और सदा इधर-से-उधर भागती ही रहती है—इस क्षण प्राण को फ़्लानी चीज़ में रस है तो अगले ही क्षण वह ढिमाकी की तरफ़ दौड़ जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह सफलता पाने में असमर्थ होता है—सामान्यतः जिस व्यक्ति को कई चीज़ों में रस हो वह कई दिशाओं में सफल हो सकता है, लेकिन यह अस्थिरता उसे किसी भी चीज़ में स्थायी सफलता पाने से रोक देती है। यह एक दोष है जिस पर विजय पानी चाहिये और पायी जा सकती है।

यह या तो 'स' की मृत्यु के बाद के सुझाव हैं या फिर मौसम का अचानक बदलाव (गरमी का प्रकोप) कि हाल ही में आश्रम के कई लोग बीमार पड़ गये। मेरे ख़याल से लोगों ने यह सोचा ही नहीं था कि उसकी मृत्यु हो जायेगी। उन्हें यह आशा थी कि श्रीमाँ की शक्ति हस्तक्षेप करेगी, और जब उसने हस्तक्षेप नहीं किया या उनकी प्रत्याशा के अनुसार चीज़ नहीं घटी तो उनका परेशान हो जाना स्वाभाविक था।

‘र’, उदाहरण के लिए, बूढ़ों और कमज़ोर लोगों की गिनती करने लगा, जो जाने के लिए प्रस्तुत हैं। निस्सन्देह, यह सब मज़ाक में किया गया, लेकिन मुझे लगता है कि कभी-कभी यह अपने साथ उसके सुझाव लिये रहता है।

निश्चित रूप से यह गरमी का प्रकोप नहीं है। कोई भी प्रतिकूल चीज़ आश्रम के वातावरण और साधकों के मन में हमेशा बड़ी लहरें उठाती है। ‘स’ के जाने के बाद लगता है कि सभी मृत्यु के बारे में सोच रहे थे। यह चीज़ निस्सन्देह हर एक चीज़ के आवागमन के लिए दरवाज़ा खोल देती है। किसी के पेट में दर्द उठा और वह घोषणा कर बैठता है कि वह मरने वाला है। दूसरा लिखता है, “मैं मरने की सोच रहा हूँ क्योंकि मैं माँ का काम अच्छी तरह नहीं कर पा रहा हूँ।” इत्यादि, इत्यादि। ‘र’ की अटकलबाज़ियाँ, चाहे वे गम्भीर हों या हास्यकर, सहायता नहीं करतीं। लेकिन हाल ही में बीमारियाँ बड़े आवेग के साथ आती दीख रही हैं, और सम्भवतः इसका कारण भौतिक स्तर पर कोई विक्षोभ या संघर्ष हो। लेकिन आश्रम में फैली इस तरह की मानसिकता इसे प्रकट होने का ज़्यादा अवसर देती है, कहीं और यह चीज़ इतनी उभर कर नहीं आती।

२९ मार्च १९३५

रात को ‘स’ ने आकर मुझे जगा कर कहा कि ‘च’ ने कहा है कि मैं जाकर ‘ट’ से मिलूँ। मैंने पूछा कि क्या ‘र’ और वह वहीं हैं, और फिर ‘न’ ने मुझसे कहा था कि ज़रूरत पड़ने पर ही मैं जाऊँ। जब वे लोग थे ही तो मैंने वहाँ जाने की कोई उपयोगिता नहीं देखी। बहुत बार इधर-से-उधर भाग-दौड़ विक्षुब्ध वातावरण पैदा कर देती है जो मरीज़ के लिए अच्छा नहीं होता। इसलिए मैं नहीं गया।

तुम्हारी बात ठीक है। जब तक वहाँ देखभाल करने के लिए कोई था, जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। लोगों का जमघट केवल एक हलचल पैदा कर देता है, जब कि वहाँ शान्ति की ज़रूरत है।

मेला देखने जाने का हमारा कार्यक्रम वैसे ही रद्द हो गया, क्योंकि हमने शाम चार बजे छत की ढलाई का काम ले लिया। कुछ लोग ज़रूर गये, लेकिन मेरे ख़याल से वहाँ स्त्रियों और रात के ‘बॉल-डांस’ देखने के सिवाय देखने-लायक और कुछ न था। ऐसे मेलों और सम्मेलनों में बहुधा स्त्री-पुरुषों को निहारने इत्यादि की प्राणिक गतियाँ ही होती हैं। यही चीज़ मैंने दूसरी जगहों पर भी गौर की है, और वहाँ जाओ तो उनसे बचना बड़ा मुश्किल होता है।

हाँ, ऐसी सभी प्रदर्शनियाँ या मेले बेवकूफी से भरे और व्यर्थ के होते हैं, हाँ, अगर उनमें अन्य

देशों और महाद्वीपों के जीवन, उत्पादन इत्यादि के बारे में बड़े पैमाने पर दर्शाया जाये या इसी तरह की दूसरी सचमुच रुचिकर चीज़ों की प्रदर्शनी हो तो और बात है। फिर भी वहाँ दर्शकों द्वारा रचित एक प्राणिक वातावरण तो होता ही है, लेकिन साथ ही कुछ सार्थक भी होता है।
३० मार्च १९३५

‘ड’ ने मुझसे हिस्टीरिया या मिरगी के बारे में पूछा और यह कि इसका दौरा पड़ने पर व्यक्ति के अन्दर इतनी शक्ति कैसे आ जाती है। मैंने उसे मिरगी और न्यूरोसिस (स्नायुओं की गड़बड़) के फ्रॉयड के सिद्धान्त के बारे में बतलाया और कहा कि शायद स्नायुओं और मांसपेशियों की संरक्षित ऊर्जा से यह बल प्राप्त होता है। उसने एक लड़के का उदाहरण दिया जिसे मिरगी के दौरे इसलिए पड़ते थे क्योंकि वह किसी खास जगह पर जाना चाहता था और उसके पिता उसकी अनुमति नहीं दे रहे थे। ‘ड’ ने बतलाया कि उसकी पत्नी को यह दौरा तब पड़ा जब उसके पास पॉण्डिचेरी आने की अनुमति का पत्र पहुँचा। तब मुझे याद आया कि मेरी पत्नी का भी यही हाल हुआ था जब मैंने उसे कुछ दिनों के लिए पॉण्डिचेरी आने के अपने इरादे के बारे में बतलाया था। मुझे लगता है कि ‘म’ को यह दौरा इसलिए पड़ा क्योंकि उसे लगता था कि ‘ट’ उसे दबा रहा है। और उसने बदले में कभी उसे जवाब नहीं दिया—उसने अपने गुस्से को दबा कर रखा। कम-से-कम, बहुत से मामलों में यह सम्भव है कि किसी तरह का कोई दबाव होता है और अन्दर दबी हुई कोई चीज़ होती है जो तब उभड़ कर बाहर निकल आती है जब स्नायुओं में असन्तुलन होता है।

निस्सन्देह, किसी चीज़ को अन्दर दबाये रखने से (अनासक्ति के बिना) दमन की गयी निम्न शक्तियों की एक “गुप्त राशि” बनती रहती है, और मौक़ा पाते ही किसी-न-किसी रूप में वे भड़क सकती हैं। अतिभोग भी समान परिणाम ला सकता है, क्योंकि तब स्नायुओं पर मन का संयम नहीं रहता और वह नष्ट हो जाता है तो व्यक्ति की स्नायुएँ कमज़ोर पड़ जाती हैं। मेरा अनुभव यह है कि ये चीज़ें इतनी ज़्यादा जटिल हैं कि इन्हें किसी एक ही सिद्धान्त में लपेट लेना सम्भव नहीं है। और फिर इन सबके पीछे बहुत सारे भौतिक और मनोवैज्ञानिक सहायक कारण भी होते हैं; उदाहरण के लिए, अब यूरोप के चिकित्सक पागलपन के सभी दोषों या कम-से-कम उनके बारम्बार होने वाले रूपों के लिए कहते हैं कि इनका कारण या तो सिफ़िलिस है (जो वंशानुगत हो या फिर जिससे मरीज़ आक्रान्त हो गया हो) या फिर कोलोन् बेसिली (बृहदान्त्र बेसिली), जो बृहदान्त्र से होता हुआ मसित्ष्क तक पहुँच जाता है! उदाहरण के लिए, व्यक्ति के अन्दर मसित्ष्क के इस इलाके में बहुत-सी गड़बड़ें हो सकती हैं और उपर्युक्त रोगों के महाशय इधर-उधर घूमते-फिरते गलत जगहों में घुस कर मसित्ष्कीय जमाव या मिरगी,

उन्माद इत्यादि को पैदा कर देते हैं।

मेरा मन 'च' में कितना रमा रहता है जब मैं उसे गुज़रते हुए देखता हूँ! हालाँकि उसकी मेरे साथ या मेरी उसके साथ बातचीत करने की कहीं कोई सम्भावना नहीं है फिर भी, बिना किसी सक्रिय सहारे के, मन उसी की ओर खिंचा चला जाता है। मुझे मालूम नहीं कि मुझसे बातें किये बिना वह मुझे अपनी ओर खींचने की कोशिश तो नहीं करती न? वह तो अब मुझसे चलते-फिरते, यूँ ही एकाध शब्द भी नहीं बोलती! मैं यह इसलिए कह रहा हूँ कि कभी-कभी बातचीत करने, सम्पर्क स्थापित करने से कहीं ज़्यादा असरदार तरीक़ा यह होता है। आज मैंने उसे 'व' के घर की तरफ़ जाते हुए देखा था और तब से मेरा मन चकरघिन्नी की तरह उसी के बारे में सोच रहा है। मैंने अपने रिश्तेदारों के बारे में भी इतना नहीं सोचा होगा।

भले वह तुम्हें अपनी ओर खींचने की कोशिश न भी करे, लेकिन शायद जब वह तुम्हें देखती है तो अनजाने में ही उसकी तरफ़ से एक खिंचाव होता हो। ये चीज़ें यान्त्रिक बन जाती हैं। यह चेतना की यान्त्रिक क्रिया होती है जो अतीत में कार्यरत थी—यह होती है एकदम से भौतिक, हालाँकि आती है सूक्ष्म भौतिक से—इसीलिए अगर एक बार उत्स या मूल को छू लिया जाये तो उसमें बरबस बार-बार प्रकट होने की शक्ति आ जाती है।

३१ मार्च १९३५

—श्रीअरविन्द